up 10.2

मुमुक्षु

आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक
त्रैमासिक

अक्तूबर, नवम्बर, दिसम्बर
१९९३
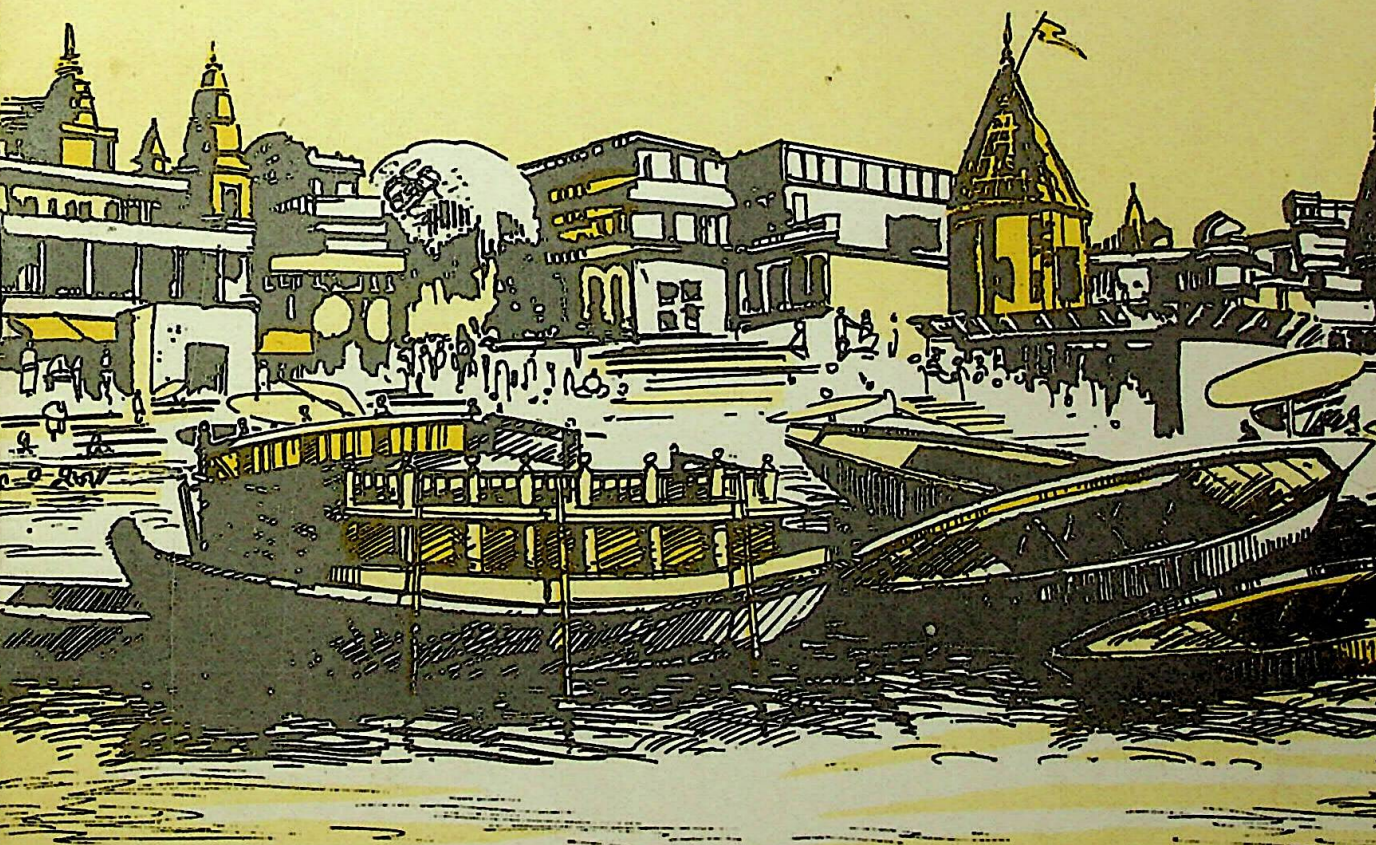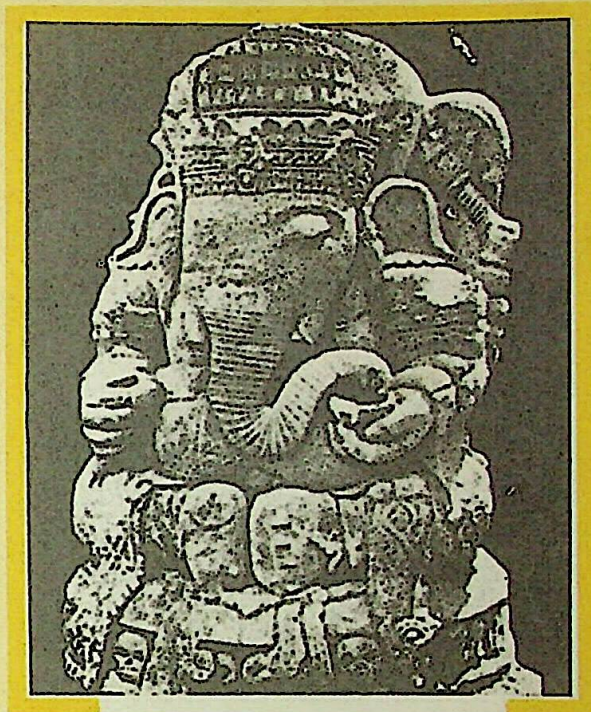
आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक
त्रैमासिक पत्र

वर्ष १३ : अंक १
पौष सं० २०५०
अक्तूबर, नवम्बर, दिसम्बर
१९९३

सम्पादक
श्री नन्दकिशोर रूँगटा

सहसम्पादक
श्री स्वामी भगवत्स्वरूपदास 'भास्कर'

प्रकाशक
काशी मुमुक्षु भवन सभा
अस्सी, वाराणसी - २२१ ००५
दूरभाष : ३१००६०, ३१११८७

वार्षिक : बीस रुपये
एक अंक : ५.००

आजीवन
दो सौ इक्यावन रुपये

इस अंक में

निवेदन—लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से 'मुमुक्षु' अथवा काशी मुमुक्षु भवन सभा का सहमत होना अनिवार्य नहीं है ।

मुमुक्षु

वर्ष : १३ अक्तूबर, नवम्बर, दिसम्वर १९९३ अंक : १

पदवाक्यप्रमाणपारवारीण, षड्दर्शनग्रन्थग्रन्थिभेत्ता, नित्यब्रह्मविचार-सारज्ञाग्रणी, संत्यक्तैषात्रय, भक्तजनवाञ्छाकल्पद्रुम, काशीमुमुक्षुभवनसभा के प्रथमोन्नायक, ब्रह्मीभूत **श्री १००८ श्रीस्वामी घनश्यामानन्दजी तीर्थ महाराज** के भवाब्धिसन्तरणपोतवच्चरणकमलों में ॐ नमोनारायणस्वरूप शतशः साष्टाङ्ग प्रणति ।

नित्यं ब्रह्मविचारणाप्रवणधीः संत्यक्त-सांसारिकव्यापारोऽखिलशास्त्रपाठनपरः प्रज्ञावतामग्रणीः ।
यस्याखण्डतपः प्रभावविगतक्रोधादिवैरिब्रजः सौधोप्याश्रमवद्विभाति स घनश्यामो यती राजते ।।

गुरुकृपाकाँक्षी एक अनन्य

धर्म और अध्यात्म मीमांसा

‖ डॉ० रामचन्द्र तिवारी ‖

आज हमारे समाज में 'धर्म' और 'अध्यात्म' शब्दों को लेकर पर्याप्त विचार-विमर्श हो रहा है । 'धर्म' शब्द सर्वाधिक विवादास्पद बन गया है । सामान्यतः यह समझा जाने लगा है कि धार्मिक और आध्यात्मिक होने का अर्थ इस संसार से सर्वथा विरक्त अपने में लीन किसी दूसरे लोक में निवास करना है । इसलिए सांसारिक होने के लिए 'सेकुलर' (Secular) (धर्म निरपेक्ष) होना आवश्यक है । कुछ लोग समझने लगे हैं कि धर्म-विशेष के प्रति निष्ठा रखने वाला अनिवार्यतः दूसरे धर्मों के प्रति अनुदार होगा इसलिए धर्म से ही अलग हो जाना चाहिए । कुछ लोगों के लिए 'धर्म' की चर्चा करना पिछड़े पन की निशानी है । कुछ धर्म-प्रवण लोग ऊपरी कर्म-काण्ड को ही धर्म का मूल तत्त्व मान कर अधिक से अधिक समय उन बाह्य विधियों और अनुष्ठानों को पूरा करने में लगा देते हैं । जो मात्र एक उच्चतर मनोभूमि के निर्माण के साधन हैं । ऐसी विचित्र स्थिति में आवश्यक हो जाता है कि हम 'धर्म' और 'अध्यात्म' के स्वरूप को ठीक से समझें और इनके सम्बन्ध में स्वस्थ और उचित धारण बनायें ।

'धर्म' वस्तुतः वह आन्तरिक सर्व सामञ्जस्यमयी व्यवस्था है जो पूरे विश्व को धारण किये हुए है । 'ध्रियते लोको अनेन इति धर्मः' । हम देखते हैं कि यह सम्पूर्ण विश्व एक निश्चित व्यवस्था के अधीन सुचारु रूप से संचालित हो रहा है । इस नानात्वपूर्ण विश्व में, इस सम्पूर्ण विराट् प्रकृति में कहीं भी असामञ्जस्य नहीं है । जरा से प्राकृतिक विचलन से प्रलयंकर हो जाता है । क्षुब्ध प्रकृति सृष्टि के लिए संहारक बन जाती है । प्रकृति के सारे तत्त्व किसी केन्द्रीय शक्ति के अधीन अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं । एक का धर्म दूसरे के आड़े नहीं आता । सभी गतिशील हैं, क्रियाशील हैं, किन्तु किसी की क्रिया और गति दूसरे का मार्ग अवरुद्ध नहीं करती है । इस विराट् विश्व के सुचारु और सामञ्जस्यमय संचालन का जो अन्तर्नियम हैं वही 'ऋत' है । वही 'सत्य' है, और वही 'धर्म' है । मनुष्य इस विश्व का अंग है । वह इस विराट् प्रकृति के साथ सामञ्जस्य स्थापित करके ही 'ऋत' का पालन कर सकता है । 'ऋत' का वाह्य लक्षण है—सामञ्जस्य' । मनुष्य ने अपनी अन्तः प्रकृति और वाह्य प्रकृति में पूर्ण सामञ्जस्य घटित करने से लिए जिन नियमों की सृष्टि की है वे ही 'धर्म' के आधार हैं । महाभारत में भीष्म ने युधिष्ठिर से धर्म का सार प्रस्तुत करते हुए कहा था कि विरोध और द्वन्द्व पैदा करे वह अधर्म है और जो द्वन्द्व का शमन करके एकता और सामञ्जस्य का विधान करे वही धर्म है । मनुष्य के भीतर उसकी मनोवृत्तियाँ में द्वन्द्व है । इच्छाओं में द्वन्द्व है । अनेक प्रकार की दुश्चिन्तायें हैं । असन्तोष हैं । ईर्ष्या-द्वेष है । इन्द्रियाँ अपनी तृप्ति के लिए अलग-अलग विषयों की ओर उन्मुख होती हैं । अतृप्ति उद्वेग और क्षोभ उत्पन्न करती है । तात्पर्य यह है कि सामान्य मनुष्य का अन्तःकरण पूर्ण सामञ्जस्य की स्थिति में नहीं है । इसी प्रकार बाह्य प्रकृति के साथ भी वह प्रायः अपने को संघर्ष की स्थिति में पाता है । बुद्धि के विकास के साथ यह संघर्ष बढ़ता ही जा रहा है । वह कौन सा साधन है जो मनुष्य के भीतर और बाहर पूर्ण सामञ्जस्य लाकर उसे दुःख-सुख की सामान्य विषमता-मूलक अनुभूतियों से मुक्त कर सकता है । उसे नाना प्रकार के शारीरिक-मानसिक द्वन्द्वों से ऊपर उठा सकता है ? वह साधन है—धर्म ।

मनुष्य जब सुख:दुख, राग-द्वेष, आत्म-पर, सद्-असद् आदि सभी प्रकार के द्वन्दों से ऊपर उठ जाता है, जब वह विश्वव्यापी सामञ्जस्य-विधायिनी अन्तस्सत्ता से अभिन्न हो जाता है तब वह पूरी तरह आध्यात्मिक हो जाता है । अखिल ब्रह्माण्ड व्यापी सामञ्जस्य-विधायक-शक्ति केन्द्र ही 'ब्रह्म' या परमात्मा है । सभी प्रकार के द्वन्द्वों से ऊपर उठकर समत्व बोध के स्तर पर पहुँच कर मनुष्य जब ब्रह्म या परमात्मा की अनुभूति करता है तब उसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है । चेतना के उच्च स्तर पर पहुँचा हुआ प्रत्येक साधक इस आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति करता है । इस स्तर पर मनुष्य की आत्मा ही गतिशील होती है, वह मन और बुद्धि के स्तर से ऊपर उठ चुका होता है । अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश नीचे छूट जाते हैं । आनन्दमय कोश तक पहुंचा हुआ अध्यात्म पुरुष ही ब्रह्मानुभूति या ब्रह्मानन्द का अनुभव कर पाता है । आत्मा के इस आनन्दमय लोक तक मानव चेतना को ले जाना धर्म का लक्ष्य है । धर्म अपनी पूर्णता में मनुष्य को आध्यात्मिक बनाता है । अध्यात्म की साधना आत्मा की साधना है । 'आत्मा' की सत्ता का अनुभव बुद्धि के भेदात्मतक स्तर से ऊपर उठकर ही किया जा सकता है । मानव पिण्ड में 'आत्मा' की सत्ता ठीक उसी रूप में है जिस तरह ब्रह्माण्ड में 'ब्रह्म' या 'परमात्मा' की । तत्त्वतः 'आत्मा' 'परमात्मा' में अभेद है । धर्म साधना इस अभेद दशा की अनुभूति कराने वाली साधना है । इस प्रकार धर्म साधना की वह प्रक्रिया है जो मनुष्य को जड़ता के बन्धन से मुक्त करके भेद-बुद्धि से ऊपर उठाकर पूरी तरह आध्यात्मिक बना देती है ।

हम कह सकते हैं कि 'अध्यात्म' धर्म का शिखर स्तर है । इस शिखर स्तर की अनुभूति विश्व के सभी महान् धर्म साधकों ने की है । डॉ० राधाकृष्णन ने लिखा है—'जब उपनिषदें इस महा सत्य की घोषणा करती हैं कि 'वह तुम हो' (तत्त्वमसि), जब बुद्ध उपदेश देते हैं कि प्रत्येक मानव-शक्ति अपने अन्दर बुद्ध या बोधिसत्व होने की शक्ति रखता है, जब यहूदी कहते हैं कि—'मानवता ही ईश्वर का दीपक हैं, जब ईसा अपने श्रोताओं से कहते हैं कि स्वर्ग का राज्य उन्हीं के अन्दर है और जब मुहम्मद जोर देते हैं कि ईश्वर हमारे उससे भी ज्यादा नजदीक हैं जितना हमारे गले की धमनी है—तब इन सबका एक ही आशय होता है कि जीवन की सबसे महत्वपूर्ण वस्तु मानव के बाहर की किसी चीज में नहीं बल्कि उसके चिन्तन एवं भावना के गुप्त स्तरों में ही पाई जा सकती है । इसीलिए भारतीय ऋषियों ने धर्म को अवरोधी माना है । महाभारत में कहा गया है कि जो धर्म किसी दूसरे धर्म के विरुद्ध पड़ता है, वह सच्चे अर्थों में धर्म नहीं है ।

धर्मो यो बाधते धर्मो न सो धर्मः कुधर्मतः ।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनि सत्तम ।।

ऐसा इसीलिए है कि सभी धर्म अन्ततः उस परमात्म तत्त्व से प्रेरित हैं जो विराट् विश्व की सारी गतियों का नियंत्रक और सामञ्जस्य-विधायक है ।

परमात्म तत्त्व अनुभूति करने के लिए मनुष्य को अपने चित्त का संस्कार करना होगा । अपने में उन गुणों को विकसित करना होगा जो उसके नैतिक बोध को जागृत करके उसे ऐन्द्रिक आसक्तियों से ऊपर उठा सकें । धर्मशास्त्रों में इन गुणों को धर्म का लक्षण माना गया है । मनुस्मृति में कहा गया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम् ।।

अर्थात् धैर्य, क्षमाशीलता, आत्मनियन्त्रण, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धिमता, विद्या में अनुराग, सत्य का पालन करना, क्रोध न करना ये दश धर्म के लक्षण हैं । कहना न होगा कि यह धर्म का व्यावहारिक रूप है । मनुष्य को आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर करने के लिए उपर्युक्त गुणों को आयत्त करना अनिवार्य है । यह धर्म का प्रथम सोपान है । यह उसका नैतिक धरातल है । इस धरातल पर मनुष्य मात्र को लाया जा सकता है । इसीलिए उपर्युक्त गुणों को सामान्यधर्म भी कहा गया है । भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में समाज का नेतृत्व करने के लिए इन गुणों को

आयत्त और चरितार्थ करना अनिवार्य माना गया था। 'राम' को धर्म-विग्रह इसीलिए माना गया था कि उनमें ये सारे गुण पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए थे। राम नियतात्मा, धैर्यवान, जितेन्द्रिय, बुद्धिमान, नीतिमान, सत्य प्रतिज्ञ, उदार, समदर्शी, क्षमाशील, त्यागी पवित्रात्मा, ज्ञानी और तत्त्व-वेत्ता थे। रामकाव्य की पूरी परम्परा—वाल्मीकि से लेकर तुलसी तक में राम को इन गुणों से मंडित दिखाया गया है। तुलसी के राम तो जिस धर्म-रथ पर आसीन होकर रावण का संहार करते हैं वह धर्म के इन्हीं लक्षणों को मूर्त करने वाला है। मध्यकाल के सभी महान् साधकों, सन्तों और भक्तों ने इन्हीं गुणों की चरितार्थता पर बल दिया है। गोरक्षनाथ, नामदेव, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, शंकरदेव, कबीर, नानक, दादू, रैदास तथा इस परम्परा में आने वाले अनेक सिद्ध साधकों ने इसी सामान्य धर्म की शिक्षा दी है। और तो और, उन्नीसवीं शती के भारत-व्यापी नवजागरण की रीढ़ यह सामान्य मानवधर्म ही था जिसकी प्रतिष्ठा अपने-अपने ढंग से राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और दयानन्द ने की थी। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने तो संतो और साधकों के वचनों को आधार बनाकर 'मानवधर्म' की परिकल्पना की और 'रैलिजन आफ मैन' नामक एक पुस्तक ही रच डाली।

भारतीय संस्कृति की एक निजी विशेषता यह रही है कि उसने मनुष्य के सारे क्रिया-कलापों को धर्ममय बना दिया है। यह कहना अधिक सही होगा कि उसने समग्र मानव जीवन का आध्यात्मीकरण करने की महान् चेष्टा की है। कला और साहित्य, विज्ञान और दर्शन, राजनीति और अर्थशास्त्र, पारिवारिक और सामाजिक सामाजिक संगठन और उनके कार्य-व्यापार, परम्परा और कानून, अर्थोत्पादन और वितरण प्रणाली अर्थात् मनुष्य के सारे कार्यकलाप हिन्दुओं की दृष्टि में मानवजाति द्वारा विकसित आध्यात्मिक संस्कृति के ही विविध आयाम है और ये सभी आध्यात्मिक जीवन के विश्वजनीन सिद्धान्तों द्वारा नियन्त्रित एवं अनुशासित हैं। इन सारे कार्य-कलापों को धर्मभाव से किया जाता है। ये सभी मनुष्य को अध्यात्म भूमि तक ले जाने में सहायक हैं। इसीलिए चारों पुरुषार्थों में 'धर्म' पहले है 'अर्थ' और 'काम' बाद को और अन्ततः ये सभी मोक्ष की लब्धि में सहायक या साधक बन जाते हैं। जगत् से सारे भेद-प्रभेदों से ऊपर उठकर अखिल ब्रह्माण्ड की गति का नियमन करने वाले परमतत्त्व से एकात्म हो जाना ही मोक्ष है। मनुष्य की समस्त क्रियाओं के मूल में उसकी ज्ञान शक्ति, इच्छाशक्ति और क्रिया शक्ति ये तीनों गतिशील होती हैं। कला, साहित्य, दर्शन, अर्थशास्त्र, राजनीति, सामाजिक संगठन तथा इनसे सम्बंधित समस्त कार्य-व्यापार इन्हीं शक्तियों की गति पर आधृत हैं। ज्ञान-शक्ति के द्वारा हम तत्त्व-चिन्तन में प्रवृत्त होते हैं और दर्शन शास्त्र की रचना करते हैं। हम परम तत्त्व के स्वरूप का, जीव और जगत् के साथ उसके सम्बन्ध का तथा उसकी गम्यता-अगम्यता का निर्वचन करने की चेष्टा करते हैं। इच्छाशक्ति के द्वारा हम अपने साहित्यिक एवं कलात्मक प्रयोजनों की सिद्धि करते हैं। क्रिया-शक्ति के द्वारा हम विचार और चिन्तन आचरित करते हैं। जब ये तीनों शक्तियाँ अलग-अलग क्रियाशील होती हैं और इनके लक्ष्य अलग-अलग होते हैं तो हमारे पुरुषार्थ असन्तुलित हो जाते हैं। भेद बुद्धि बढ़ जाती है। समाज में कार्य और लक्ष्य भेद से अनेक स्तरों और श्रेणियों का जन्म होता है। लूट-खसोट, मार-पीट, झगड़ा-टंटा नित्य के व्यापार बन जाते हैं। घौर नैतिक असन्तुलन पूरे मानव-समाज को अनुशासनहीन बना देता है। आसुरी शक्तियाँ प्रबल हो जाती हैं। धर्मभाव समाप्त हो जाता है। आध्यात्मिक चेतना सुप्त हो जाती है। और सब मिलाकर देखा जाय तो धर्म की ग्लानि हो जाती है। ऐसी ही स्थिति में विश्वनियन्ता परम तत्त्व को अवतरित होना पड़ता है। यह अवतरण धर्म-ज्योति को पुनः प्रज्वलित करने के लिए होता है। 'इच्छा', 'ज्ञान' और 'क्रिया' इन तीनों शक्तियों में सामञ्जस्य का विधान करने के लिए होता है। यह सामञ्जस्य इनमें लक्ष्यगत एकता स्थापित करके ही किया जा सकता है। भारतीय धर्म-साधना में 'मोक्ष' की प्राप्ति ही वह लक्ष्यगत एकता है। भारतीय मनीषा ने 'मोक्ष' को ही अन्तिम पुरुषार्थ माना है। हम तत्त्व-चिन्तन करते हैं—मोक्ष के लिए,

हम साहित्य का सृजन करते हैं—मोक्ष के लिए; हम योग और भक्ति की साधना करते हैं—मोक्ष के लिए हम कर्म करते हैं—मोक्ष के लिए । अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र, तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक अनुशासन 'अभ्युदय' से होकर 'निश्रेयस्' की ओर अग्रसर होने का मार्ग प्रशस्त करते हैं ।

यही मानव-जीवन का आध्यात्मीकरण है । इस आध्यात्मीकरण की प्रक्रिया को हम वर्ण-व्यवस्था और आश्रम धर्म के विधान में भली प्रकार लक्षित कर सकते हैं । वर्ण-व्यवस्था गुण और कर्म के अनुसार की गई थी । प्रत्येक वर्ण अपने कर्म का पालन करता था । यही उसका धर्म था । इसलिए स्वार्थों की टकराहट की संभावना नहीं थी । वर्णों में सामञ्जस्य था । असामञ्जस्य तो तब हुआ जब एक का कर्म दूसरे से हीन समझा जाने लगा । इस आधार पर वर्णों में ऊँच-नीच की भावना उत्पन्न हुई । किसी भी समाज में यह संभव नहीं है कि सभी लोग सब तरह के कार्य करें । कार्य-विभाजन तो होगा ही । यह विभाजन बौद्धिक स्तर और मनः प्रवृत्ति के अनुसार करना ही उचित होगा । सतर्कता इस बात को लेकर होनी चाहिए कि किसी भी स्थिति में कार्य-विशेष के आधार पर ऊँच-नीच की भावना इस सीमा तक न बढ़ जाय कि पूरा समाज भेद-भाव से आक्रान्त हो जाय । इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय मनीषा इस बिन्दु पर सतर्क थी इसीलिए व्यावहारिक स्तर पर भेदभाव बढ़ने पर भी सांस्कृतिक चेतना या आध्यात्मीकरण के स्तर पर यह देश एक और अखण्ड रह सका । कालान्तर में अनेक प्रकार के आंचार-विचारों, संस्कारों और धार्मिक विश्वासों से युक्त अनेक जातियों के समागम के कारण वर्ण-व्यवस्था विकृत होने लगी । भेदभाव बढ़ा । विविध प्रकार की रूढ़ियों और अंध-विश्वासों के प्रबल होने से अभेद-मूलक धर्म-तत्त्व को विस्मृत किया जाने लगा । और आज स्थिति यह है कि हम कभी 'रेलिजन', कभी 'मजहब' और कभी 'सम्प्रदाय' को धर्म का पर्याय मानकर उससे निरपेक्ष होने की घोषणा करने लगे हैं । आवश्यकता तो इस बात की थी कि हम आज के संदर्भ में अपनी सांस्कृतिक परम्परा का मूल्याङ्कन करते । ऐसा हमने बार-बार किया है ।

वैदिक यज्ञ-संस्था के विकृत होने पर बुद्ध ने 'तृष्णा' के त्याग को केन्द्र में रखकर करुणामूलक धर्म का प्रचार किया । 'गीता' में भगवान् कृष्ण ने अनासक्त भाव से कर्म करने की भावना पर बल दिया । शंकराचार्य ने 'संन्यास' पर बल दिया और अभेदमूलक ज्ञान साधना का महत्त्व प्रतिपादित किया । योगेश्वर गोरक्षनाथ ने उच्चतर नैतिक मूल्यों के आचरण और समरसत्व की लक्ष्य सिद्धि को धर्म साधना का मूलाधार माना । मध्यकालीन संतों और भक्तों ने आचरण की पवित्रता, मानवीय एकता और ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण पर बल दिया । उन्नीसवीं शती के प्रथमार्ध में इस देश में जो सांस्कृतिक जागरण हुआ वह भी एक प्रकार से परम्परा का पुनर्मूल्याङ्कन ही था । राजा राममोहन राय, महादेव गोविन्द रानाडे, लोकमान्य तिलक, स्वामी दयानन्द, श्रीमती एनीबेसेंट, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द इन सभी ने परम्परा को मथकर उन्नीसवीं शती की वैज्ञानिक उपलब्धियों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करते हुए धर्मतत्त्व की पुनर्व्याख्या की । इनमें थोड़ा-बहुत मतभेद अवश्य है किन्तु धर्म का निषेध कहीं नहीं है । उन्नीसवीं शती के इस सांस्कृतिक मंथन से धर्म-प्रेरित सांस्कृतिक राष्ट्रीय चेतना और विश्वमानवतावाद का जो अभ्युदय हुआ वह आज भी प्रासंगिक है । यदि आज यह अनुभव किया जा रहा है कि तब से संदर्भ बदल गये हैं तो हमारा निवेदन है कि नये संदर्भ के अनुकूल परम्परा का पुनर्मूल्याङ्कन कीजिए । आस्था का कोई ऐसा केन्द्र तो होना ही चाहिए जो हमारी प्रवृत्तियों का नियमन करके हमें घोर स्वार्थभाव से ऊपर उठाकर परहित में तत्पर कर सके । हम आस्था के इसी केन्द्र को धर्म कहते हैं । केन्द्र के अभाव में आप किसी परिधि का निर्माण नहीं कर सकते चाहे वह परिधि राष्ट्रीयता की हो चाहे विश्व मानवतावाद की । ➤

जहाँ शिव प्रकाश रूप में विराजते हैं

शिव की उपासना के लिए विशेष स्थानों का भी महत्त्व है । उदाहरण के लिए गांव-गांव और गली-गली में शिवालय है लेकिन आगम ग्रन्थों ने गिने चुने शिवपिण्डों को ही विशिष्ट आध्यात्मिक ऊर्जा से सम्पन्न बताया है । देवी के हजारों स्थान हैं लेकिन शक्तिपीठ के रूप में बावन मन्दिरों की ही मान्यता है । 'ललितागम' ग्रन्थ के ज्ञानपाद शिवलिंग प्रादुर्भाव पटल में एक सौ आठ शिवपीठों की गणना की गई है । दण्डी स्वामी सिद्धेश्वर आश्रम ने बृहद् सनातन धर्म मार्तण्ड ग्रन्थ में २७५ शिवस्थानों को शास्त्रीय कहा है । 'ललितागम' ग्रन्थ के अनुसार शिवलिंग असंख्य हो सकते हैं परन्तु दक्षिण मार्ग वाममार्ग दोनों ही दृष्टि से १०८ शिवलिंगों का दर्शन अर्चन सिद्धिप्रद है ।

इन एक सौ आठ स्थानों में भी बारह ज्योर्तिलिंगों का विशेष महत्त्व है । अन्य स्थानों पर शिव के अर्चा विग्रह को शिवलिंग कहा जाता है लेकिन सोमनाथ, श्रीशैल, उज्जैन, ओंकारेश्वर, केदारनाथ, भीमशंकर, काशी, नासिक, देवघर, गोमती, द्वारका, रामेश्वर और देवगिरि के प्राचीन प्रमुख शिवालयों को ज्योतिर्लिंग कहा जाता है । इन स्थानों के धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से जो भी गूढ़ महत्त्व हो लोक की दृष्टि से भी उनके ज्योतिर्लिंग होने के विशिष्ट कारण हैं । एक विश्वास के अनुसार ये स्थान अति प्राचीन है और यहाँ प्रतिष्ठित अर्चा विग्रह नैसर्गिक रूप से बने हैं । अंन्य शिवालयों या देवालयों में अर्चा विग्रहों के साथ शिल्पी को कभी कोई छेड़छाड़ नहीं करना पड़ा । प्रकृति ने स्वयं ही इन्हें इस रूप में गढ़ा और बारह साधकों ने प्रतिष्ठित किया । एक विश्वास के अनुसार इन बारह स्थानों पर विशिष्ट साधकों ने विशेष साधनाएं सम्पन्न कीं । उनकी साधना से प्रसन्न होकर शिव उन स्थानों पर प्रकाश रूप में अवतरित हुए । उपासकों ने कामना की कि शिव यहीं विराजमान हो जाएं और शिव का प्रकाश शरीर घनीभूत होकर अर्चा विग्रह में बदल गया इसी कारण वह विग्रह ज्योतिर्लिंग कहा जाने लगा अर्थात् इन स्थानों पर शिव स्वयं सशरीर विराजमान हैं ।

दण्डीस्वामी सिद्धेश्वर आश्रम ने बारह ज्योतिर्लिंगों की दार्शनिक विवेचना करते हुए लिखा है—शिवपुराण की तात्त्विक प्रक्रिया के अनुसार ब्रह्माण्ड केवल बारह तत्त्वों का ही संघात है । ये बारह तत्त्व हैं पृथ्वी, अप (जल), तेज (अग्नि), वायु आकाश (ये पंच महाभूत कहे जाते हैं) मन, बुद्धि चित्त, अहंकार, (अन्तःकरण चतुष्ट जीव, प्रकृति और पुरुष । इस बारह तत्त्वों के प्रतीकभूत ही बाहर ज्योतिर्लिंगों की प्रतिष्ठा की गयी है । लेकिन यह विवेचन बहुत सामान्य है और गहन जिज्ञासुओं की इससे संतुष्टि नहीं हो सकती । अपनी भावना और विचार विवेक के अनुसार ही प्रत्येक उपासक ज्योति स्वरूप शिवालयों के रहस्य को समझ और ग्रहण कर सकता है । संक्षेप में उनका परिचय मात्र यहाँ दिया जा रहा है ।

सोमनाथ—प्रभास क्षेत्र (काठियावाड़) के विरावल नामक स्थान पर स्थित । समुद्र तट पर स्थित यह ज्योतिर्लिंग जूनागढ़ के पास है । पौराणिक आख्यान के अनुसार चन्द्रमा ने क्षय ग्रस्त होने के शाप के उद्धार के लिए यहाँ शिव की आराधना की थी । चन्द्रमा को यह शाप प्रजापति दक्ष ने इस बात पर कुपित हो कर दिया था कि वे अपनी पंत्नियों से समता का व्यवहार नहीं करते थे । दक्ष के शाप से क्षय ग्रस्त होकर चन्द्रमा की किरणें क्षीण होने लगी । उसका जड़ चेतन पर भी असर पड़ने लगा । इस संकट के निवारण के लिए चन्द्रमा सहित सभी देवों ने शिव की आराधना की और वे प्रभास क्षेत्र में ज्योति रूप से अवतरित हुए वहीं प्रतिष्ठित भी हुए चन्द्रमा के निमित्त प्रकट होने के कारण ज्योतिर्लिंग का

नाम सोम (चन्द्रमा) नाथ पड़ा । इतिहास प्रसिद्ध है कि महमूद गजनवी ने ग्यारहवीं शताब्दी में यह मन्दिर तुड़वा दिया था । सोलहवीं शताब्दी में इसे गुर्जर राजाओं ने बनवाया तो औरंगजेब ने फिर तुड़वा दिया । आजादी के बाद भारत सरकार ने मन्दिर की फिर प्रतिष्ठा की ।

मल्लिकार्जुन—तमिलनाडु में श्री शैल पर्वत पर स्थित । पास ही कृष्णा नदी बहती है । श्री शैल पर्वत को दक्षिण का कैलास और कृष्णा नदी को गंगा कहा जाता है । पौराणिक मान्यता है कि यहाँ शिव और पार्वती दोनों प्रकट हुए थे । दोनों के समन्वित विराजमान होने के कारण ही इस जगह का नाम मल्लिका (पार्वती) अर्जुन (शिव) पड़ा । दोनों अपने पुत्र कार्तिकेय के स्नेहवश अवतरित हुए थे ।

महाकालेश्वर—उत्तर भारत में प्रमुख शैवतीर्थ उज्जैन में ज्योतिर्लिंग महाकाल के नाम से विख्यात है । एक आख्यान के अनुसार श्रीकर की भक्ति से प्रसन्न हो कर शिव स्वयं प्रकट हुए थे और महाकालवन में प्रतिष्ठित हो गए । श्रीकर एक साधारण गोप बालक था । शिव में उसकी अन्य निष्ठा थी । लेकिन लोग उसकी भक्ति का उपहास उड़ाते । शिव ने उसकीं भक्ति को मान्यता देने के लिए स्वयं को अवतरित किया । एक अन्य मान्यता के अनुसार दूषण नामक असुर के आतंक का नाश करने और अपने भक्त की रक्षा करने के लिये शिव हुंकार करते हुए प्रकट हुए इसलिए महाकाल कहलाए । मन्दिर का प्रांगण बहुत विशाल है और ज्योतिरूप महाकाल भूमि की सतह से नीचे गर्भग्रह में स्थित है ।

ओंकारेश्वर—नर्मदा नदी के तट पर मोरटका के पास स्थित यह ज्योतिर्लिंग नदी के दाएं और बाएं दोनों तट पर स्थित है । नर्मदा नदी के बीच में स्थित है मांधता पर्वत । नदी इस पर्वत को घेरती हुए बहती है । प्रकृति की करामात ही कहना चाहिए कि पर्वत की आकृति ओम की तरह है । शायद इसीलिए पर्वत पर स्थित ज्योतिर्लिंग को ओंकारेश्वर कहते हैं । दक्षिण किनारे बस्ती में स्थित मन्दिर अमलेश्वर कहा जाता है । ओंकारेश्वर मन्दिर में दर्शन के लिए पहले दो कोठरियों से होकर जाना पड़ता है । भीतर अंधेरा रहता है ।

केदारनाथ—हिमालय के केदार नामक शिखर पर स्थित होने के कारण केदारनाथ आख्यान है कि विष्णु के अवतार नर नारायण बद्रिकाश्रम में तप करते थे और पार्थिव शिवलिंग की पूजा करते थे । शिव के प्रसन्न होने पर उन्होंने ज्योतिरूप में शिव से वहीं प्रतिष्ठित होने का वर मांग लिया । शिव ने वरदान दिया और केदारनाथ बन कर प्रतिष्ठित हो गए । हिम आच्छादित प्रदेश होने के कारण बारहों महीने दर्शन खुले नहीं रहते हैं । आमतौर पर वैशाख से कार्तिक तक ही यह क्षेत्र सुगम रहता है ।

भीमशंकर—बम्बई से पूर्व और पूना से उत्तर काशी में भीमा नदी के तट पर सह्याद्रि पर्वत पर स्थित है । एक आख्यान के अनुसार भीमक नामक सूर्यवंशी राजा की तपस्या से प्रसन्न होकर शिव यहाँ प्रकट हुए थे । शिवपुराण के अनुसार भीम नाम के एक असुर का आतंक समाप्त करने के लिए शिव यहाँ ज्योति रूप में अवतरित हुए ।

विश्वनाथ—काशी स्थित ज्योतिर्लिंग । मान्यता है कि शिव को यह नगरी अत्यन्त प्रिय है, यह उनके त्रिशूल पर बसी हुई है और यह भी कि इसका प्रलय काल में भी लोप नहीं होता । काशी विश्वनाथ का प्राचीन ज्योतिर्लिंग उपलब्ध नहीं है । प्राचीन मन्दिर मध्यकाल में मुगल बादशाह औरंगजेब ने तुड़वा दिया था । विश्वेश्वर की मूर्ति ज्ञानवापी में फिकवा दी गयी बताते हैं । नये विश्वनाथ मन्दिर का निर्माण उस जगह से थोड़ा हट कर हुआ है ।

त्र्यंबकेश्वर—नासिक में गोदावरी के तट पर स्थित यह जगह महर्षि गौतम की तपस्थली है । पौराणिक कथा है कि गौतम की तपस्या से प्रसन्न होकर शिव ने गंगा को यहाँ बसने के लिए कहा । गंगा शिवचरणों को छोड़कर अन्यत्र जाने को तैयारी नहीं हुई तो शिव भी अपने परिवार सहित यहाँ आ विराजे । गंगा यहां गोदावरी के

रूप में आकर प्रवाहित हुई । नासिक में हर बारह साल में कुंभ पर्व भी पड़ता है ।

वैद्यनाथ—किडल स्टेशन से दक्षिण पूर्व में देवघर स्थित ज्योतिर्लिंग । कथा प्रसिद्ध है कि रावण शिव से स्वयं यह अर्चा विग्रह प्राप्त कर लंका ले जा रहा था । उद्देश्य यह था कि इसके बाद शिव कैलाश छोड़कर लंका आ जाएंगे । शिव ने विग्रह इस शर्त के साथ दिया था कि रास्ते में वह कहीं नहीं रखा जाएगा । देवताओं ने शिव को कैलास से लंका ले जाने में भारी अहित देखा और ऐसी योजना रची कि उसे विग्रह बीच रास्ते में ही रख देना पड़ा । रावण ने उसे उठाने की बहुत चेष्टा की पर सफलता नहीं मिली । विग्रह वहीं अचल हो गया । यह जगह ही वैद्यनाथ धाम कही जाती है । सावन में यहाँ बड़ा मेला लगता है और लोग दूर-दूर से जल ला कर चढ़ाते हैं ।

नागेश्वर—गोमती द्वारका से वेट द्वारका जाते समय करीब अठारह किलोमीटर पूर्वोत्तर में स्थित । शिवपुराण के अनुसार दारुक नामक राक्षस के आतंक से छुटकारा दिलाने के लिए शिव ने स्वयं को यहाँ प्रकट किया था । दारुक की पत्नी दारुका पार्वती की भक्त थी ।

रामेश्वर—सेतुबंध रामेश्वर की स्थापना मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने की थी । रावण के आसुरी आंतक को समाप्त करने के लिए लंका पर आक्रमण के पहले उन्होंने बालुका से लिंगमूर्ति बनाई और विजय आशीर्वाद मांगा । पास ही हनुमदीश्वर भी हैं । मन्दिर बहुत विशाल और भव्य है । गंगोत्री से गंगाजल लाकर रामेश्वर में चढ़ाने का बड़ा माहात्म्य है । मन्दिर में शिव की प्रधान लिंगमूर्ति के अलावा और भी कई मूर्तियां हैं । भीतर अनेक कुएं हैं जो तीर्थ कहे जाते हैं ।

घुस्मेश्वर—दौलताबाद से बीस किलोमीटर दूर वेरूल ग्राम में स्थित । पास ही इलौरा की प्रसिद्ध गुफाएं हैं । घुश्मा नाम की एक भक्त नारी की वांछा पूरी करने के लिए शिव यहाँ ज्योतिरूप में अवतरित हुए । शिवपुराण में इस ज्योतिर्लिंग के सम्बन्ध में रोचक आख्यान आता है । देवगिरि पर्वत जैसे भी प्रसिद्ध शिवतीर्थ है और यहाँ बड़ी संख्या में लोग श्राद्धाभाव से आते हैं ।

सभी ज्योतिर्लिंगों में कुछ समानताएं भी हैं जैसे सभी नदी तट पर या सुरम्य पर्वतों पर स्थित हैं । श्रद्धालु मन की विसंगत सी दिखने वाली भावनाओं और भोले विश्वासों को महत्त्व न दें तो भी ध्यान धारणा, जप तप और उपासना आदि आध्यात्मिक उपचारों के लिए अनुकूल वातावरण का महत्त्व तो स्वीकार करना ही पड़ेगा । बारह स्थानों पर शताब्दियों से हो रही पूजा, अर्चा, उपासकों की भावनाएं और स्थूल कर्मकाण्ड वहाँ के वातावरण को तरंगित करते हैं । इस तथ्य पर भी विवाद की कोई गुंजाइस नहीं है ।

भुने चने

कुबेर एक उपासक पर प्रसन्न होकर बोले 'वरदान मांगो ।'

उपासक ने कहा— 'जो सबसे उत्तम हो, वह दे दो ।'

कुबेर— 'तुम एक घटी मेरे कोषागार में रहो वहाँ से उतने समय में चुन लो, जो सर्वश्रेष्ठ लगे ले लो ।' वह कोषागार में गया । इंद्रनीलमणि उठाया तो सूर्यकांतमणि लुभाए । सूर्यकांतमणि उठाया तो वैदूर्यमणि । वैदूर्यमणि उठाया तो रक्तमणि भली लगे । रक्तमणि उठाया तो हीरक की आभां मन को छू जाये । कुछ चुन नहीं सका, घटी बीत गयी । कुबेर का सेवक आया और बाहर निकालते हुए उसने उपासक से कहा— 'यहाँ से कभी कोई कुछ नहीं ले जा सका । लो भुने चने खाओ ।'

अपने जीवन का अवलोकन करें

स्वामी राम

मानव-जीवन कोई नवीन घटना नहीं । जन्म और मृत्यु के दो छोर हमारे जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । जिन दो अंकों पर हमारी यह जीवनरेखा टिकी हुई है वह हमारे ज्ञात जीवन का एक छोटा-सा भाग है । हमारा सम्पूर्ण जीवन इस जीवन के पूर्व और अन्त के उन बिन्दुओं में छिपा पड़ा है, जिन्हें हम जन्म और मृत्यु कहकर पुकारते हैं । हम अपनी अज्ञानतावश जीवन का छोटा-सा भाग, जो हमारे समक्ष है उसी को पूर्ण जीवन मान कर चलते हैं, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है । यह जीवन समुद्र में तैरते हुए बर्फ के उस शिलाखण्ड की भाँति है जो कि तैरता हुआ-सा प्रतीत होता है ।

समुद्र में बर्फ का एक शिलाखण्ड तैर रहा है । शिलाखण्ड का बहुत छोटा हमें दिखाई देता है । इस तैरते हुए शिलाखण्ड का विशाल भाग, सहस्त्रों गुना विशाल भाग समुद्र जल के तले लुप्त है । दूर से हम यही समझते हैं कि छोटा बर्फ का टुकड़ा तैर रहा है । निकट जाकर ध्यानपूर्वक देखने से प्रतीत होता है कि जिसे हम देख रहे हैं, वह बर्फ के सम्पूर्ण शिलाखण्ड का एक छोटा-सा भाग है जो व्यक्त ज्ञात और मूर्त भाग कहा जाता है और विशाल भाग अव्यक्त, अज्ञात और अमूर्त की गोद में छिपा हुआ है । ठीक यही बात हमारे जीवन के साथ घटित होती है । जिसे हम जीवन कहते हैं, वह तो हमारे सम्पूर्ण जीवन का एक छोटा-सा व्यक्त और ज्ञात भाग है ।

सहस्त्रों गुना विशाल भाग अव्यक्त में है । हमारा स्वरूप इतना ही नहीं, हम इतने छुद्र एवं अदने नहीं । विचारपूर्वक देखने से प्रतीत होता है कि हमारा जीवन महान् है, हम अपने जीवन को विस्मृत कर बैठे हैं । इस जीवन के व्यक्त भाग को जान लेने पर हमें सम्पूर्ण जीवन और जन्म के रहस्यों का ज्ञान नहीं हो सकता है, अतः हमको जीवन के अव्यक्त भाग का ज्ञान होना चाहिए । यह ज्ञान होने के पश्चात् हमारे कई प्रश्न हल हो जाते हैं और हमारी कई समस्याओं का समाधान हो जाता है ।

बस इतनी-सी कहानी जन्म, जीवन और मृत्यु के रहस्य पर हम कहना चाहते हैं । आज हमारे समक्ष जो समस्याएं आ खड़ी होती हैं और हमारे विकास को अवरुद्ध करती हैं, जिनका हमें समाधान नहीं मिल पाता, वह हमारी अपनी अज्ञानता है । हमारा जीवन कैसे समुन्नत हो, हमारा उद्देश्य क्या हो ? यह ज्ञान हो जाय तो हमारा कल्याण सम्भव है ।

किन्तु किसे अवकाश है कि इन महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर विचार कर सके । हम जीवन का बहुमूल्य समय कैसे नष्ट करते हैं । एक चौथाई मानव-जीवन निद्रा में व्यतीत होता है, चौथाई भाग भोजन में चौथाई बाग वस्त्र पहनने और खेलकूद में, बचा चौथाई भाग हर्ष-शोक के पर्वों को मनाने में ही समाप्त हो जाता है । सचमुच अज्ञानता की बाहों में आबद्ध मानव दुःखी है । जब तक वह अज्ञानता के तिमिर में है तब तक वह भटकता ही रहेगा । उसे कोई मुक्त नहीं कर पायेगा । मुक्ति भिक्षा और दान में प्राप्त नहीं होती । हम सबकी समस्यायें स्वनिर्मित हैं । हम जिसे दुःख कहते हैं उसको हम स्वयं ही उत्पन्न करते हैं । हम ही अपने शत्रु हैं और हम अपने मित्र भी बन सकते हैं । यदि हम अपने को स्वयं सुखी बनाने में असमर्थ हैं, यदि हम अपने मित्र स्वयं नहीं बनते, तो संसार की कोई शक्ति हमारा उद्धार करने में समर्थ नहीं । आत्मा से ही आत्मा का उद्धार होना सम्भव है । यदि हम अपने आत्मस्वरूप को विस्मृत करदें तो हमें कोई शास्त्र

कोई उपदेशक, कोई योगी कुछ नहीं देगा । हम जीवन की राह पर कुछ खोये-खोये से चलते हैं । केवल अपने से ही आप उपेक्षित होकर कटुताओं का अनुभव करते हैं । हमारा दुःख, हमारी वेदना, हमारी अज्ञानता इन सबका उत्तरदायित्व केवल हमारे ऊपर निर्भर है ।

प्रायः प्रत्येक मानव के जीवन में कुछ ऐसी घटनाएं घटित होती हैं जो उसे स्मृति दिलाती है कि यह जीवन केवल इतना ही नहीं और इसे ऐसे व्यक्ति न करना चाहिए जैसा कि हम किया करते हैं । जीवन की महत्वाकांक्षाएं कभी बड़े वेग से जीवन के चरम प्रश्न के समाधान के हेतु व्यग्र हो जाती हैं । हमारा जीवन किसी उद्देश्य की ही प्राप्ति के लिए है और जिस धरातल पर हम आज खड़े हैं वह जीवन-उद्देश्य को प्राप्त करने का साधन क्षेत्र है ।

जिस संसार में हम आये हैं वह तो हमारी जीवन-यात्रा का एक पड़ाव मात्र है । एक यात्री का उद्देश्य किसी एक ही पड़ाव पर निवास करने से सिद्ध नहीं हो सकता । सम्पूर्ण जीवन-यात्रा में यह जीवन एक चरण मात्र है और हमें अगले चरणों को प्राप्त करना होगा । आगे बढ़ना ही विकास है । जिसकी गति अवरूद्ध हो जाती है, जो एक ही स्थान में मोह ग्रस्त हो जाता है वह विकसित नहीं हो पाता इस संसार में मानव एक अतिथि की भांति है जो कि अतिथिशाला में केवल निवास करने का अधिकार रखता है । क्या ऐसा नहीं ? हम कुछ काल के लिए आते हैं और चले जाते हैं । कोई प्रबुद्ध प्राणी जब किसी अतिथिशाला में निवास करता है तो उसकी दीवारों और वस्तुओं से ममत्व नहीं जोड़ता क्योंकि वे वस्तुएं उसकी नहीं होती और जो ऐसा नहीं करता वह अपनी यात्रा सफल करने में समर्थ नहीं हो सकता । बस सारे दुःखों की जननी ममता है जोकि हम अपने स्वजन और मित्रों से स्थापित करते हैं ।

जीवन के उद्देश्य के प्रति प्रमाद एवं उदासीनता का भाव मानव के लिए महान् घातक है, इससे सदा बचना चहिए । जीवन-सत्य से मुंह मोड़कर मानव अधिक काल तक सुख का अनुभव नहीं कर पाता । अतः प्रत्येक मनुष्य को अपने उदेश्य के प्रति सदा जागरूक रहना चाहिए । जिस दिवस मनुष्य के अन्दर अपने उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है वह जीवन का एक शुभ दिवस होता है । वही मानव दिव्यकोटि का मानव कहलाता है जो कि सदा अपने उद्देश्य के प्रति जागरूक रहतां है ।

सामान्य मानव की पंक्ति से हटकर ऐसा मानव विशुद्ध मानवों की पंक्ति में जा खड़ा होता है । यह सम्भव है और इसी जीवन में इसका अनुभव भी हो सकता है ।

एक मानव के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपने जीवन के अपूर्णत्व को भी अनुभव करे । मानव अपनी वर्तमान स्थिति में अपूर्ण है । यह भी सत्य है और विचार करने पर ज्ञात होता है कि मानव इसी जीवन में पूर्णत्व का लाभ भी प्राप्त कर सकता है । महापुरुष इसके साक्षी हैं । मुक्ति ही मानव का परम उद्देश्य है और इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सभी धर्म संलग्न हैं । ➤

परछाईं और बच्चा

सर्दियों के दिन थे स्वामी रामतीर्थ अपराह्न में घूमने निकल पड़े । उन्होंने देखा एक बच्चा अपनी परछाईं के पीछे दौड़ रहा है रामतीर्थ ठहर गये । बच्चा कभी भागकर, कभी दबे पांव और छलांग लगाकर अपनी छाया को पकड़ना चाहता और छाया थी कि पकड़ाई में ही न आती । बच्चा थककर रो पड़ा ।

स्वामी राम ने रोते हुए बच्चे के दोनों हाथ उठाकर उसके सिर पर रख दिये । छाया पकड़ी गयी देखकर, बच्चा खुशी से चिल्लाया । 'जादू ! आपको यह कैसे आया ?'

'किसी के भी पीछे नहीं भागकर' ।

मृत्यु से भय क्या ?

मृत्यु तो मानों जीवन वृक्ष में लगा मधुर फल है या ईश्वर का ही एक स्वरूप है जन्म और मृत्यु इस जीवन रूपी गृह के प्रवेश और अन्तिम द्वार हैं । जीवन और मरण वस्तुतः एक रूप ही हैं । जिस प्रकार रात्रि से अरुणोदय होता है और अरुणोदय से रात्रि, उसी प्रकार मरण से जीवन एवं जीवन से मरण होता है । ईश्वरांश जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर सहित स्थूल शरीर से पृथक् होना ही मृत्यु है ।

जीवन का प्रवाह अनन्त है । हम अगणित वर्षों से जीवित हैं और अगणित वर्षों तक जीवित रहेंगे । आत्मा अनादि अक्षय और अमर है । मृत्यु से डरना कायरता और अज्ञता है । गीता उपनिषद् आदि धार्मिक ग्रन्थों में मृत्यु को गौण समझा गया है । गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि
जातस्य हि ध्रुवो मृत्योर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं न शोचितुमर्हसि ।

(२-२६-२७)

अर्थात् 'अर्जुन ! यदि तू इस आत्मा को सदा जन्मने और मरने वाला माने, तो भी इस प्रकार का शोक करना उचित नहीं ।' कारण ऐसा होने से जन्म ने वाले की निश्चित मृत्यु और मरने वाले का निश्चित जन्म होना सिद्ध हुआ । इस लिये भी इस अपरिहार्य विषय में तेरा शोक करना उचित नहीं कहा जा सकता ।

बहुत से व्यक्ति अज्ञतावश सगे सम्बन्धियों की मृत्यु पर बड़ा शोक मानते हैं । रोते-चिल्लाते हैं । ऐसे अज्ञानी व्यक्ति मृत्यु के रहस्य को नहीं पहचानते । नश्वर शरीर के लिये शोक करना व्यर्थ है । कबीर कहते हैं—

कबिरा जन्त्र न बाजई, टूटि गये सब तार ।
जन्त्र बिचारा क्या करे, चले बजावन हार ।।

जीवन में जन्म और मृत्यु का समान महत्त्व है । मृत्यु मानों एक प्रकार का विस्मरण है । संसार में 'स्मृति' के समान विस्मृति का भी उतना ही महत्त्व है । जन्म लेने के बाद से हमने जो-जो बाते कीं, जो-जो सुना, जो-जो देखा, जो मन में सोचा, यदि उन सबका हमें सदा स्मरण रहे तो बड़ा भार हो जायगा । वह जीवन भार स्वरूप है । अतएव मृत्यु भी एक वरदान है । जिसके कारण नवीन जीवन प्राप्त होता है । मृत्यु के कारण संसार में प्रेम और मानवता का प्रसार है । यदि हम अमर होते तो एक दूसरे की बात भी पूछते ? तुच्छ स्वार्थ के लिए आये दिन व्यापक रूप नर हत्यायें होती रहती । हम सब पत्थरों जैसे एक दूसरे से दूर-दूर पड़े रहते । किन्तु हमें विचार आता है कि आखिर हम सबको मर जाना है । तो क्यों किसी का बुरा कर पाप मोल लें । जिसने मृत्यु का रहस्य समझ लिया, वह कभी पाप नहीं करेगा और न किसी का पुरा ही सोचेगा । इस जन्म को जो अन्त है, वहीं अगले जन्म का आरम्भ । अतः सदैव मरण का स्मरण रखना चाहिए ।

मरण के स्मरण की आवश्यकता में सन्त एक नाथ महाराज की एक घटना याद आती है । जो इस प्रकार है—एक सज्जन ने एकनाथ महाराज से पूछा—नाथ ! आप का जीवन कितना सीधा-साधा कितना निष्पाप है ! हमारा जीवन ऐसा क्यों नहीं ? एक नाथ ने कहा—अभी मेरी बात छोड़ो तुम्हारे सम्बन्ध में मुझे मालुम हुआ है कि आज से सातवें दिन तुम्हारी मौत आ जायगी । एक नाथ की बात कौन झूठ माने ? वह सज्जन जल्दी-जल्दी घर दौड़े । कुछ सूझ नहीं रहा था । आखिर समय की सब कुछ समेट लेने की बातें करने लगा । बेचारा सोच में

बीमार हो बिस्तर पर पड़ गया । इस तरह तरह छः दिन बीत गये । सातवें दिन एकनाथ अचानक उसके घर आ धमके । उन्होंने पूछा क्या हाल है ? प्रणाम करते हुये उसने कहा—बस, यह चला ! नाथ ने पूछा—इन छः दिनों के भीतर कितना पाप किया ? पाप के कितने विचार मन में आये ? वह आसन्न मरण व्यक्ति बोला—नाथ ! पाप का विचार करने की तो फुरसत ही न मिली । मौत एक सी आंखों के सामने खड़ी थी । नाथ ने कहा—हमारा जीवन इतना निष्पाप क्यों है, इसका उत्तर अब मिल गया न ? यदि मौत सामने दिखती रहे तो मनुष्य किस बल पर पाप करेगा ?

हिन्दू संस्कृति में मृत्यु अमर आशावाद है । मृत्यु की भीषणता से डरकर अमर बनने के लिये अमृत की कल्पना की गयी है । प्राचीन ऋषि मुनियों ने अमृत की जो परिभाषा बताई थी उसे हम भूल गये हैं । उनके कथनानुसार आत्मा की अमरता पहचानना ही अमृतत्व को प्राप्त करना है । यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक 'सुकरात' मरते समय विष के प्याले में अमृतत्व का स्वाद ले रहे थे । महाकवि गेटे ने मृत्यु के समय कहा था—अधिक प्रकाश अधिक प्रकाश ।

आर्ष ग्रन्थों में लिखा है—'प्राणो वै मृत्युः' मृत्यु प्राण है । अतः मृत्यु से डरना व्यर्थ है । ➤

शवयात्रा में पदरचना

चारण वंश के प्रखर व तेजस्वी कवि सूर्य मल्ल मिश्रण हाड़ौती भू-भाग की प्रमुख रियासत बूंदी में राज कवि के रूप में सुशोभित थे । जिन्होंने वंश भास्कर व वीर सतसई जैसे काव्य ग्रन्थों की रचना की ।

घटना का प्रसंग तब का है जब कविवर सूर्यमल मिश्रण की भार्या का देहावसान हुआ । बून्दी गढ़ पेलेस की तलहटी में स्थित भावल जी की बावड़ी से उनकी भार्या की शव यात्रा चल रही थी । तभी कवि की मित्र मण्डली के एक शख्स बहादुर जी कलावंत जो संगीतज्ञ थे अपने हाथ में तम्बूरा लिए सामने से आते दिखाई दिये । कवि मित्र की भार्या का शोक समाचार सुने वे भी शव यात्रा में शामिल हो गये ।

शोकाकुल शव यात्री श्रद्धानत मौन विदाई के साथ श्मशान पहुँचे । पण्डित दाह क्रिया प्रारम्भ कर चुका था कि कविवर मिश्रण दाह क्रिया को बीच में ही रोक अपने अजीज मित्र बहादुर जी कलावंत की ओर मुखातिब हो कहने लगे कि शोक के इस प्रसंग का गीत सुनाओ । शोक संतप्त कलावंत जी को अपने मित्र मिश्रण को जवाब देते नहीं बना । अतः उन्होंने इतना ही कहा, 'यह अवसर गायन का नहीं है ।'

सृजन उत्प्रेरणा से पीड़ित कवि मिश्रण ने स्वयं ही कलावंत जी के हाथों से तम्बूरा ले लिया और अपनी भार्या के विरह में पद रच कर गाने लागे........... 'लाड़ी जी, घूंघटडों तो खोलो, म्हांने देखवा को चाव छै.......' और वे विरह गीत को रच कर गाने में लीन हो गये । लोगों ने कवि को याद दिलाया कि दाह क्रिया में विलम्ब हो रहा है । तो विरह गीत गाते-गाते सूर्यमल्ल मिश्रण ने जवाब दिया— 'मुझे गाने दो.......फिर कभी यह समय थोड़े ही आयेगा...... यह पति की अपनी पत्नी को अंतिम विदाई....... । और वे अपनी भार्या की अंतिम विदा का विरह गीत पुनः गाने लगे ।

प्रकृति से जुड़ें

स्वामी विवेकानन्द का पहला उद्बोधन था—स्वस्थ बनो, क्योंकि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ आत्मा निवास करती है । भारतीय वांङ्मय में तो आरोग्य को ही समस्त सांसारिक तथा पारलौकिक उदेश्यों की पूर्ति का आधार बताया गया है । कहा है—

धर्मार्थकाममोक्षाणाम्, आरोग्यमूलमुत्तमम् ।

आरोग्य वस्तुतः सामान्य, सरल और सहज शारीरिक अवस्था है, जो प्रकृति के तथा परिवेश के साथ लयात्मक सम्बन्धों को बनाये रखने पर स्वतः प्राप्त हो जाती है । अब हम यदि यह कहें कि रोग इस लय के टूट जाने का परिणाम हैं, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी । शरीर निरन्तर अपनी दशा स्थिति को विभिन्न संकेतों एवं लक्षणों के माध्यम के अभिव्यक्त करता रहता है और उनको अनदेखा करने का अर्थ है—रोग को आमंत्रण । आयुर्वेद में रोग उत्पन्न होने से पूर्व की इस स्थिति को 'पूर्वरूप कहा गया है ।

स्वस्थ शरीर के लिए स्वस्थ पोषण आवश्यक है । स्वस्थ पोषण से ही रोग निरोध तथा चिकित्सा संभव है । शारीरिक शक्ति तथा स्वस्थ कोषाओं, ऊतकों ग्रन्थियों और अंगों का निर्वाह विभिन्न पोषक तत्त्वों के ऊपर निर्भर है । विशिष्ट पोषक तत्त्वों के अभाव में शरीर अपनी कोई क्रिया भी क्रिया, चाहे वह चयापचय, अन्तस्रावी ग्रन्थियां, मानसिक, शारीरिक अथवा रासायनिक क्रियाएं ही क्यों हों, सम्पन्न नहीं कर सकता । इसलिए उपयुक्त पोषक तत्त्वों का चुनाव उनको आत्मसात करके ही स्वास्थ निर्माण तथा निर्वाह सम्भव है ।

पोषण के साथ-साथ रोग निवारण में भी भोज्य वस्तुओं की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है रोग का मूलभूत कारण किसी शारीरिक क्रिया का निर्बल हो जाना अथवा शरीर की प्रतिरोधक शक्ति घट जाना है । यह स्थिति दोषपूर्ण पोषण पद्धति से जन्म लेती है । ध्यान देने की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वयं को स्वस्थ रखने के लिए शरीर में अलौकिक तथा चमत्कारिक चिकित्सकीय प्रबन्ध विद्यमान है । लेकिन इनका लाभ आवश्यक पोषक कारकों के उपयोग से ही उठाया जा सकता है ।

मानव-कोषाओं को कम से कम ४५ रासायनिक घटकों तथा तत्त्वों की आवश्यकता होती है । पोषण की ये आधारभूत आवश्यकताएं हैं । इसलिए सन्तुलित खुराक में इनकी उपस्थिति जरूरी है । इन तत्त्वों में आक्सीजन तथा जल भी है । शेष ४३ तत्त्वों व घटकों को हम पांच समूहों में रख सकते हैं । ये हैं—कार्बोहाइड्रेट्स, वसा, प्रोटीन, खनिज लवण तथा विटामिन ।

अनेक शोध तथा अनुसंधानों से यह निष्कर्ष सामने आया है कि इन पोषक तत्त्वों की कमी से ही लगभग सभी प्रकार की व्याधियां उत्पन्न होती हैं । पोषक तत्त्वों की यह कमी खाद्य पदार्थों के अत्यधिक प्रसंस्करण तथा परिशोधन के परिणामस्वरूप होती है । फलों तथा सब्जियों को खेत तक से लाने तथा खाने के बीच का लम्बा अन्तराल, खाद्य वस्तुओं की सफाई, सुगंधीकरण, उनको रंगने और भंडारण के कारण भी उनके पोषण तत्त्व मारे जाते हैं । पोषक तत्त्वों में कमी का एक और बड़ा कारण रासायनिक खाद, कीटनाशक तथा खेती बढ़ाने के लिए छिड़के जाने वाले विभिन्न रसायन हैं ।

शोध से यह भी स्थापित हो चुका है कि पोषणहीनता के कारण उत्पन्न व्याधियों को पोषक तत्त्वों के सन्तुलित आहार द्वारा ही ठीक किया जा सकता है, लेकिन यह तभी सम्भव है, जबकि शारीरिक क्षति असाध्य न हो चुकी हो ।

यदि आपकी खुराक में १. अन्न, दाल तथा सूखे मेवे, २. सब्जियां और ३. ताजे फल सम्मिलित हैं, तो वे सभी आवश्यक पोषक तत्त्वों से भरपूर हैं और शारीरिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए पर्याप्त हैं ।

अन्न, दाल व सूखे मेवे—ज्वार, बाजरा, गेहूँ, जौ मक्का, चना तथा चावल सर्वाधिक प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण खाद्य पदार्थ हैं, जो शरीर को पोषण शक्ति प्रदान करते

हैं । इसी श्रेणी में बादाम, मूंगफली, काजू, पिस्ते तथा अखरोट भी हैं ।

ये पदार्थ स्वास्थ्य के लिए आवश्यक फैटी एसिड्स से मुख्य स्रोत हैं । इनमें विटामिन 'बी' तथा लेसिथिन की भी पर्याप्त मात्रा है । विटामिन 'सी' के ये सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं, जो स्वास्थ्य संक्षरण तथा समय पूर्व वृद्धावस्था को रोकने के लिए आवश्यक है । खनिज लवण भी इनमें हैं । कोषाओं के नवीकरण के लिए शरीर को इनकी आवश्यकता होती है ।

सब्जियां—खनिज लवण, एन्जाइम और विटामिनों के समृद्ध स्रोत होते हैं । लेकिन गलत तरीके से पकाने और बासी करके खाने पर ये पोषक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं । ज्यादातर सब्जियों के पोषक तत्त्वों का लाभ उनको सलाद के रूप में प्राकृतिक अवस्था नष्ट कराये बिना लेने से ही मिला जाता हैं ।

फल—सब्जियों की तरह फल भी खनिज पदार्थों, विटामिन्स तथा एन्जाइम्स के चमत्कारिक स्रोत हैं । ये सुपाच्य होने के कारण सरलता से पच जाते हैं । इनका सर्वाधिक लाभकारी प्रभाव रक्त तथा पाचन संस्थान की शुद्धि के रूप में मिलता है । प्रोटीन तथा वसा की बहुत कम मात्रा होने तथा जलीय तत्त्व अधिक होने के कारण ही शरीर को इनसे इतने लाभ प्राप्त होते हैं ।

इन तीन मूलभूत खाद्य-पदार्थों के साथ-साथ ताजा शुद्ध दूध, वनस्पति तेल तथा शहद शरीर को स्वस्थ तथा निरोग रखने में महत्त्वपूर्ण सहायक भूमिका का निर्वाह करते हैं । ➤

जैसा खाए अन्न वैसा बने मन

मन की निर्मिति अन्न से होती है । हम जो भोजन करते हैं, वह जठराग्नि के द्वारा पचाए जाने पर तीन रूपों में परिणत हो जाता है । उसका जो स्थूलतम भाग है, वह मल बन जाता है । अन्न का मध्यमांश अर्थात् जो मध्यम् धातु है, वह रसादि के क्रम से परिणत होकर माँस बन जाता है । 'योऽणिष्ठास्तन्मनः ।' अर्थात् जो सूक्ष्मतम अंश है, उसी से मन का निर्माण होता है ।

जैसे दही को मथने पर उसका जो सूक्ष्मतम अंश है, वह ऊपर इकट्ठा हो जाता है । वही मक्खन बन जाता है । वैसे ही खाये हुए अन्न का जो सूक्ष्म भाग है, वह मथानी की भाँति घूमने वाली जठराग्नि के द्वारा मथे जाने पर ऊपर आता है । वही मन होता है । अतः मन अन्नमय है । इसीलिए लोक में यह कहावात है—'जैसा खाए अन्न वैसा बने मन ।' भोजन के गुणों से ही मानसिक गुणों का निर्माण होता है । यदि भोजन शुद्ध एवं पवित्र हो तो मनुष्य की सभी वृत्तियाँ भी पवित्र हो जाती हैं । अन्न ही मानसिक बल अर्थात् शक्ति का कारण है ।

महर्षि उद्दालक आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा—'तू पंद्रह दिन तक भोजन मत कर । केवल पानी पी, जी भरकर । उसने पन्द्रह दिन तक भोजन नहीं किया । 'तदुपरांत सोलहवें दिन पिता के पास आया । पिता ने कहा—'पुत्र ! तुम ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद के मंत्रों का पाठ करो ।' परन्तु आश्चर्य । श्वेतकेतु मंत्रपाठ न कर सका । उसके मन की गति मंद पड़ चुकी थी । उसे मंत्रों का अर्थ समझ नहीं आ रहा था ।

तब पिता ने कहा—'जाओ पुत्र पहले अन्न ग्रहण करो ।'

श्वेतकेतु ने भोजन ग्रहण किया । जैसे जुगनू के समान चमकते हुए अङ्गारे मे जलाने की सामर्थ्य क्षीण हो जाती है, परन्तु यदि उसे तृण से प्रज्ज्वलित किया जाये तो वह पुनः दहकने लगता है और पहले की अपेक्षा अधिक दाह करने में समर्थ हो जाता है । उसी प्रकार श्वेतकेतु की सामर्थ्य रूप सोलह कलाओं में से, पन्द्रह दिन भोजन न करने से एक-एक कला निरंतर क्षीण हो गई । जुगनू की दाहशक्ति के समान एक कला ही शेष रही । श्वेतकेतु ने अपनी इस अवशिष्ट कला को अन्नरूपी ईंधन से पुनः प्रज्ज्वलित किया । तदुपरांत उसने वेदों का मंत्रपाठ किया । तब उससे जो भी पूछा गया वह उत्तर देने में समर्थ रहा । उसने वेदों के अर्थतः जाना । तब श्वेतकेतु ने अनुभव से जाना कि मन अन्नमय है ।

(छान्दोग्योपनिषद् ६.५.१, -६.७.६)

कृष्ण का जीवन संगीत

कर्मयोग

[३क]

श्री गुणवंत शाह

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।।
अन्न से उपजे जीव, वृष्टि से उपजे अन्न,
यज्ञ से हो वृष्टि, कर्म से उपजे यज्ञ ।

इस श्लोक में सृष्टि पर चलते यज्ञकार्य का रहस्य समाहित है । सभी जीव अन्न से पोषित होते हैं और अन्न वर्षा के कारण उत्पन्न होता है । वर्षा यज्ञ करने से होती है और यज्ञ नियत कर्म करने से होता है ।यहाँ यज्ञ करने से वर्षा होने की बात झट से गले उतरनेवाली नहीं है । यह बात वैज्ञानिक संदर्भ में समझ लेनी चाहिए । इस सृष्टि में नत्रजन का चक्र चलता रहता है । जब बादल टकराते हैं तब नाइट्रोजन का विपुल पुंज मुक्त होता है और हवा में से, जमीन में से, सड़े पदार्थों में से और खेतों में से वनस्पति-सृष्टि इसे प्राप्त करती है । प्राणी वनस्पति खाकर नत्रजन प्राप्त करते हैं । इस तरह उत्सर्ग प्रक्रिया से प्राणियों द्वारा खाया नत्रजन पृथ्वी को वापस मिलता है और नत्रजन चक्र चलता रहता है । इस विशाल चक्कर का टूटना हमें नहीं पोसायगा । पृथ्वी से जो प्राप्त किया जाय वह उसे वापस मिलना चाहिये । इसी को कहते हैं 'लॉ ऑफ रिटर्न' । परिणाम स्वरूप सहजीवन (सिम्बिओसिस) बना रहता है । अन्योन्य पोषक जीवों का सन्तुलन टूटे तो इससे भी अकाल पड़ता है । चीन में गोरैया मारने के अभियान के फलस्वरूप अकाल पड़ गया ऐसा समझ में आया । रूस में साइबेरिया की घास में रहनेवाली चींटी मारने का अभियान शुरू हुआ और घास का उत्पादन घट गया । साँप को क्षेत्रपाल (खेतपाल) इसीलिए कहा गया है कि खेत का उत्पादन घटानेवाले जीवों को वह खा जाता है । अतः प्रकृति की संरचना के साथ बहुत छेड़-छाड़ करना हितकर नहीं है, यह बात अब विकसित देशो को भी समझ में आने लगी है । प्रदूषण के कारण भी पर्यावरण के सुन्तुलन का ह्रास होता है, ऋतुओं का ह्रास होता है और भयंकर अकाल, तूफान, गर्मी की लहरें और बाढ़ जैसी विपत्तियों का सृजन होता है । १९७६-७७ में अमेरिका में विगत ८५ वर्षों में नहीं पड़ी थी ऐसी सर्दी पड़ी । १९७० में आस्ट्रेलिया में अब तक कभी न सुना गया ऐसा अकाल पड़ा । १९८० में मध्य और दक्षिण अमेरिका में गरमी की भयंकर लहर आयी और अकाल पड़ गया । १९७६ में आस्ट्रेलिया में जनवरी में पाँच गुनी और फरवरी में दस गुनी वर्षा हुई । युद्ध की तैयारी के लिए महासत्ताएँ जो विस्फोटक और क्षेप्यास्त्र बनाती हैं उनके कारण हवा में प्रदूषण फैलता है। कुछ वर्ष पूर्व रूसी वैज्ञानिकों ने अमेरिका पर विश्व के ओषजन भण्डार का बहुत बड़ा भाग खर्चकर डालने का अभियोग लगाया था । इन सब बातों का मतलब बस इतना कि आदमी प्रकृति के साथ जरूरत से ज्यादा मनमानी करे तो उससे वर्षा ही नहीं और भी बहुत तरह की हानियाँ हो सकती हैं । पृथ्वी को कहते हैं माता, पर उसके साथ व्यवहार करते हैं ऐसा मानो वह दुश्मन हो (पूतना हो) ।

कृष्ण गीता में कहते हैं, 'हे अर्जुन, इस प्रकार सृष्टि का क्रम (एवं प्रवर्तित चक्र) चलाने हेतु शुरू हुआ चक्र

अर्थात् कि यज्ञचक्र का जो अनुसरण नहीं करता वह अवश्य ही पापमय जीवन जीता है । ऐसे इन्द्रिय लम्पट का जीना व्यर्थ है । हमारे मुहँ तक एक कौर पहुँचे इसमें कितने ही मनुष्यों और जीवों का अंशदान रहता है । यदि हम ऋणमुक्ति के भाव से दूसरों के लिए कुछ भी न करें तो पाप में लिप्त होंगे ।इसीलिए 'परस्परं भावयन्तः' भाव से एक दूसरे का ध्यान रखकर जीने की बात गीता ने कही है । यज्ञ को ऐसे विशाल ब्रह्माण्डीय संदर्भ में अर्जुन के समक्ष पेश करने में कृष्ण की मौलिकता विद्यमान है । होमहवन में या अन्य बाह्याचार में, यज्ञ सीमित नहीं हो जाता । हमारी यज्ञ प्रधान संस्कृति में से निष्पन्न हुई जीवन-दृष्टि का श्रेष्ठतम संकेत है । यज्ञ, शोषण, युद्ध, कालाबाजार, भ्रष्टाचार और गृद्धवृत्ति से पीड़ित आज की दुनियाँ को गीता द्वारा प्रबोधित यज्ञ दृष्टि ही बचा सकती है !

व्यास की खूबी : जीवन का केन्द्र

यज्ञ-भावना की बात करने के बाद कृष्ण पुनः सांख्यनिष्ठा का उल्लेख करते हैं । दूसरा अध्याय 'सांख्ययोग' कहलाता है । परन्तु इसमें बीच में कर्मयोग की बात आ गयी थी । यह तीसरा अध्याय 'कर्मयोग' पर होने के बावजूद इसके बीच में सांख्य टपक पड़ा है । ऐसा क्यों होता है ? फिर बेचारा अर्जुन उलझन में पड़े तो इसमें उसका क्या दोष है ? बात यह है कि जीवन को ज्ञान, भक्ति और कर्म के तीन अलग-अलग खानों में बन्द करना सम्भव नहीं है । इन तीनों विषयों की चर्चा करके अन्त में गीता एक सम्पूर्ण जीवन दर्शन हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है इन दो श्लोकों में इस बात को समझ लें—

य स्त्वाऽत्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।
आत्मा में ही रमता देखो, आत्मा से तृप्त जो रहे
आत्मा में ही हो संतुष्ट, उसे कोई कार्य नहीं रहे ।
नैव तस्य कृतेनार्थो ना कृतेनेहकश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यापाश्रयः ।।
करे या न करे इससे, उसे कोई हेतु न जागे
किसी भी भूत में उसके, कोई स्वार्थ रहा नहीं ।

बात अर्जुन को और उसके साथ हम सबको उलझन में फँसादे ऐसी है । आरम्भ में कहा,'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्मकृत्य' अर्थात् कोई भी आदमी एक क्षण के लिए भी कार्य किये बिना नहीं रह सकता । वास्तव में साँस लेना, बोलना, बैठना, सोना, जागना, पढ़ना और आलस्य से देह ऐंठना ये सब कर्म ही तो हैं । तो फिर आत्मतृप्त तथा आत्मभाव में ही लीन रहनेवाले स्थितप्रज्ञ को कुछ भी करने को नहीं रहता, ऐसा कहने का अर्थ क्या है ? यह बात ठीक से समझ में न आये तो बड़ा अनर्थ हो सकता है । आत्मभाव में लीन मनुष्य कुछ न करें, ऐसा नहीं कहा है, उसका अकर्ताभाव ऐसा है कि वह जो कुछ भी करता है वह इस प्रकार मानो कुछ भी नहीं करता । गीता ने इस हेतु 'अकर्तारम्' शब्द दो बार प्रयुक्त किया है । नरसिंह मेहता ने तो चेतावनी दी है कि—

हूँ करूँ, हूँ करूँ, एज अज्ञानता
शकटनो भार ज्यम श्वान तांणे

(मैं करता हूँ, मैं करता हूँ, यही अज्ञानता है । मानो छकड़े का भार (गाड़ी के नीचे चलनेवाला) श्वान वहन करता हो)

अकर्ताभाव मन की स्थिति है । अंहकार का नाश हो और मन शांत हो जाय उसके बाद जो होता है वह प्रभुप्रीत्यर्थे होता है । कुछ भी करने में से 'मैं' गायब हो जाय तब जो हो उसमें करनेवाला नेपथ्य में रह जाता है । एक बड़ा सा चक्कर गोल-गोल घूमता है । इस घूमते चक्र को गौर से देखेंगे तो समझ में आयेगा कि केन्द्र से दूर का बिन्दु अधिक गति से घूमता है, चक्र के केन्द्र के निकट का विन्दु अपेक्षाकृत धीमी गति से घूमता है । तर्क को आगे बढ़ायें । तो समझ में आयेगा कि चक्र के मध्य में एक ऐसा आदर्श बिन्दु हो सकता है जो गतिमुक्त होगा है । हम केन्द्र से जितने दूर उतने ही हमारे उपद्रव अधिक । गीता का अमृत हमें व्यास मुनि ने परोसा है ।

'व्यास' माने क्या ? चक्र (गोले) का भेदन करती सबसे बड़ी रेखा माने व्यास (डायामीटर) । जीवन के आरपार देख लेने की कला में व्यासमुनि का जोड़ा नहीं मिल सकता । पर व्यास की एक खूबी है, व्यास गोले के केन्द्र में से गुजरते तो हैं पर केवल गुजरते ही नहीं । हम भी जीवन के चक्र में से गुजरते हैं पर जीवन का केन्द्र विन्दु दूर रह जाता है । केन्द्र की झलक पा लेने वाला, अन्दर से सो गया आत्मतृप्त साधक कुछ भी नहीं करता, ऐसा किसी को प्रतीत हो सकता है, पर वास्तव में ऐसा होता नहीं ।

बोइंग-विमान आठ-नौ किलोमीटर की ऊंचाई पर उड़ता रहता है तब उसके अन्दर बैठे यात्रियों को ऐसा लगता है मानो वे घर में बैठे हों । जरा भी उछाल नहीं और गति की प्रतीति भी न हो ऐसी स्थिरता अनुभव होती है । वास्तव में उस समय विमान आठ-नौ सौ किलोमीटर की गति से उड़ रहा होता है । इसके विपरीत शहर का रिक्शा घंटे में बीस किलोमीटर की गति से चलता है, वह भी वह इस प्रकार मानों आपको मरने की जल्दी पड़ी हो । न्यूटन के चक्र पर सात रंग रंगने के वाद उसे घुमाया जाय तो केवल सफेद रंग ही दिखता है । इस समय सात रंग गैर-हाजिर नहीं होते पर गति के कारण हमें नजर नहीं आते, बस इतनी सी बात है । हममें और संत में क्या अन्तर है ? हम जो कुछ भी करते हैं उसमें हमारा अहंकार निहित होता है । हिटलर जैसा या नेपोलियन जैसा 'अहम्' भारी वजनी होता है । हमारा परोपकार भी 'अहम' के भाव से अलिप्त नहीं होता । हमारे कामों में हमारे 'अहम्' की झकझकाहट ऐसी वैसी नहीं होती । टेलीफोन पर बातचीत करनेवालों द्वारा सबसे अधिक इस्तेमाल शब्द 'मैं' है । सन्त की बात और है । वे कहते हैं, 'सब कुछ ऊपर वाला करता है ।'

यह समझे विना ऊपर लिखे श्लोक पढ़कर यदि कोई उल्टे रास्ते चलकर, काम धंधा करना छोड़ साधना के भ्रम में पड़े तो क्या हो ? गीता ऐसे आलसी के लिये इसी अध्याय में दो शब्द इस्तेमाल करती है, 'अधायु' माने पापी और 'इन्द्रियारामः' अर्थात् इन्द्रिय-लम्पट । गीता का बढ़िया भाष्य पण्डित दामोदर सातवलेकर जी ने किया है । जिसका मौलिक शीर्षक है, 'पुरुषार्थबोधिनी' । गीता पुरुषार्थबोधिनी है, आलस्यबोधिनी नहीं । गीता के अकर्म में और आलसी के अकर्म में जमीन आसमान का अन्तर है—उद्यान और झंखाड़ के बीच जितना होता है उतना ।

नेताओं को उदाहरण पेश करना है

गहरे तत्वज्ञान की छानबीन के साथ गीताकार कभी-कभी गाँठ बाँधने योग्य व्यवहार की बात भी बड़े सहज रूप से कहते हैं । नीचे के श्लोक में ऐसी ही एक बात कही है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्त देवेतरोजनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।
श्रेष्ठ लोग करें जो जो, वही अन्य लोग करें,
वे जिसे मान्यता दें, उसी रीति से बरतें लोग ।

समाज के अधिकांश लोगों में तत्वज्ञान की समझ नहीं होती । वे तो समाज जिन्हें 'बड़े आदमी' मानता है उनके चालचलन का अनुसरण करते हैं । ये 'बड़े आदमी' हैं नेता, महाजन, धर्मगुरु, श्रेष्ठी और सत्ताधारी । यह परिस्थिति अच्छी नहीं मानी जा सकती, पर वास्तविकता का आदर करना ही होगा । हमारे यहाँ इसी से कहा है, 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' । संक्षेप में समाज एक या दूसरे प्रकार के नेतृत्व से बंधा रहता है । विगत साढ़े तीन हजार वर्षों में, इस परिस्थिति में अधिक अन्तर नहीं आया है । ऐसी स्थिति में बड़े आदमी का उत्तरदायित्व बहुत ही बढ़जाता है । गाँधीजी के जीवन का एक प्रसंग इस बात को समझने में उपयोगी हो सकता है । यह प्रसंग मुझे पूज्य रविशंकर महाराज ने सुनाया था और मैं याद्दाश्त के आधार पर अपने ढंग से उसे प्रस्तुत करता हूँ । एक बार कस्तूरबा ने पुत्रवधू को प्रेम से देने के लिये सोने का एक कर्णफूल या ऐसे ही किसी आभूषण

का प्रबन्ध करने का विचार किया । बापू को पता चला तो उन्होंने 'नवजीवन' में सारी बात की सख्त आलोचना करते हुए कस्तूरबा की टीका की । अब्बास तैयबजी को बापू द्वारा बा के लिये की गयी यह टिप्पणी जरूरत से ज्यादा कठोर प्रतीत हुई । उन्होंने इस बारे में बापू को टोंका तब बापू ने बताया, 'लोग मुझे महात्मा मानते हैं, अतः मैं तनिक सा भी ऐसा कुछ करूँ तो वे मेरा उदाहरण देकर दस गुनी छूट लेंगे ।' अपनी राई जैसी मूल को हिमालय जैसा गिनने वाले महात्माजी के मन में ऐसी जागरूकता थी । भारत के नेताओं ने इसके पचासवें अंश की जागृति भी प्रकट की होती तो ।

कृष्ण कहते हैं, 'हे पार्थ मुझे इस त्रैलोक्य में भुना पापड़ भी तोड़ने की जरूरत नहीं है या कुछ भी किसी से लेना देना नहीं है, तो भी मैं कर्म करता हूँ कारण यह कि मैं काम न करूँ तो सभी लोग मेरा उदाहरण देंगे और समाज टिक नहीं सकेगा ।' बात एकदम सच है । कोई मुक्तात्मा अपनी मस्ती में अकर्ताभाव के कारण स्थूलकर्मों में रुचि न प्रगट करें तो सम्भव है लोग उसके उदाहरण का अनुसरण करते हुए काठ के पुतले बन जायं । इसी से कृष्ण आगे कहते हैं कि जो कर्म अज्ञानी आसक्तिपूर्वक करते हैं वे ही कर्म लोक-संग्रह की दृष्टि से ज्ञानियों को अनासक्तिभाव से करने चाहिए । रमण महर्षि हमारे युग के एक महान् सिद्ध पुरुष थे । उन्हें छोटी उम्र में आत्म-साक्षातकार हुआ था । ऐसे सिद्धपुरुष आश्रम के रसोईघर में बैठकर सागभाजी काटते थे । बुद्ध भगवान् के एक शिष्य को रात में कै-दस्त हो गये । बुद्ध भगवान् ने सारी रात सफाई करने में व्यतीत की और प्रातः शिष्यों से कहा, 'हे भिक्षुओं, जो कोई मेरी परिचर्या करना चाहता है उसे इसकी परिचर्या करनी चाहिए ।'

ब्रह्मविद्या की बात करनेवाले ज्ञानियों को भी दिन ढले रोटी तो चाहिए ही ! यदि वे आहार और उत्सर्ग का स्थूल कार्य कर सकते हों तो एकदम निष्क्रिय रहना कैसे संभव है ? शंकराचार्य जैसे सांख्यनिष्ठ आचार्य कितने हजार किलोमीटर चले इसका विचार करना चाहिए । जब सड़के नहीं थी, अन्य सुविधाएं नहीं थी और कोई साधन नहीं थे तब उन्होंने कश्मीर से कन्याकुमारी तक तथा जगन्नाथपुरी से द्वारकापुरी तक की लम्बी पदयात्राएं की । इतना सारा काम और वह भी केवल बत्तीस वर्ष की आयु में ! कृष्ण यही बात नीचे के श्लोक में अधिक स्पष्ट रूप से कहते है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।।
कर्म में आसक्त अज्ञों की भाँति, करना बुद्धि भेद नहीं,
ज्ञानी को आचरणकर योग का, ढूंढना सर्वकर्म को ।।

अज्ञानी कौन है ? तो कहते हैं कि जो कर्म में फलासक्ति रखता है वह । ऐसे लोग समाज में बहुत बड़ी संख्या में होंगे । यहाँ 'अज्ञानी' माने अपढ़ ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिए । ऐसे लोगों को समझ में आये वैसी और वे पचा सके ऐसी बातें करने के बदले यदि 'बड़े आदमी' जैसी उलझन पैदा करते हैं वैसी बातें करें तो खाते में नुकसान ही लिखना होगा । कभी-कभी ऐसी बातें करते समय देखा गया है कि विद्वानों के मन में समाज के कल्याण के बदले अपनी विद्वता का प्रदर्शन करने की अव्यक्त इच्छा भी रहती है । कृष्ण को विद्वानों की इस दुर्बलता का पता है, इससे वे नितांत व्यावहारिक स्तर पर उन्हें स्पष्ट चेतावनी देते हैं, 'ज्ञानियों आसक्ति रक्खे बिना कर्म करो, बस इतना ही काफी है ।'

'बुद्धि-भेद' शब्द समझ लें । कभी-कभी सामान्य लोग भी समझ में न आया हो तो भी एकाध शब्द पकड़ कर शब्दार्थ से चिपके रहते हैं, तिनका पकड़कर कोई आदमी उल्टी धारा में बहता रहे, वैसे ही ऐसे लोग खुद समझ लिया है इस वहम में पड़े, बहकते हैं और अन्त में डूबते हैं । एक स्त्री नित्य कथा सुनने जाती थी, कथा वाचक की बात ध्यान से सुनती थी । एक बार वह कथा सुनकर घर आयी । पति आफिस से आकर भूखा बैठा था । खाने की बात निकली तो पत्नी ने कहा 'नासतो विद्यते भावे. न भावो विद्यते सतः', पति भूखा

रहा । दूसरे दिन खाने को माँगा तो पत्नी ने कहा, 'नैनं छिन्दन्ति शास्त्राणिः' पति कुछ न बोला । शाम को आकर उसने पत्नी पर हंटर फटकारना शुरू किया । पत्नी अवाक् रह गयी । तब उसने बताया कि मैं 'हंटरवाली' देखकर आया हूँ । संक्षेप में ज्ञानियों को और कुछ नहीं तो आदर्श स्थापित करने के इरादे से भी काम करते रहना चाहिये । ईसा मसीह जैसे महान् योगी (एक योगी की आत्मकथा में योगानन्द ने ईसा के लिये यह विशेषण प्रयुक्त किया है) मेहनत की रोटी का महत्त्व समझाते हैं । समाज के नेताओं के लिये यह बात हमेशा याद रखने जैसी है । जनक राजा 'विदेह' कहलाये, पर वे हल चलाते थे ! विनोबा जी ने तो नेताओं को अनेक बार 'जनक' बनने की सलाह दी थी । आज स्थिति ऐसी है कि जो कुछ भी न करे वह 'बड़ा' माना जाता है । रविशंकर महाराज कहते थे 'वाह, जो गंदगी करे वह ऊँच और जो गंदगी साफ करे वह नीच ?' रूस के राष्ट्र प्रमुख ब्रेजनेव गेंहूँ ठीक से पके इसके लिए कटाई के मौसम में साइबेरिया जा सकते हैं और प्रेसिडेंट जिमी कार्टर मूंगफली की खेती कर सकते हैं पर हमारे प्रधान.....! अब्राहम लिंकन का बचपन लकड़ी चीरने में बीता था और अमेरिका के प्रेसिडेण्ट के रूप में महत्वपूर्ण सभा में जाते समय रास्ते में कीचड़ में डूब गये शूकर को बचाते हुए वे गंदे हो सकते थे, सभा में विलम्ब से पहुँच सकते थे । प्रधानमंत्री नेहरू की मोटर रेलवे फाटकवाले ने रोकी तो नेहरू ने उसे शाबासी दी । केवल कर्म की बाबत ही नहीं, अनेक विषयों में 'श्रेष्ठ' अर्थात् 'बड़े' माने जाने वाले नेताओं को अपने वर्तन द्वारा उदाहरण पेश करते रहना चाहिए । समाज में सुखी लोग शादी-ब्याह में ठाठ-बाट करते हैं तो उसे देखकर गरीब व्यर्थ ही व्याकुल होते हैं । इस बारे में पैसे वालों को सादगी से विवाह सम्पन्न करके आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए । समाज में देखा-देखी के कारण बहुत कुछ चलता रहता है, इस कारण योग्य नेतृत्व का महत्व बहुत बढ़ जाता है ।

स्वधर्मे निधनं श्रेय

श्रीमद्‌भगवदगीता ने हमें कितने ही अनोखे और अपूर्व शब्द दिये हैं । 'स्थितप्रज्ञ' शब्द गीता को छोड़ अन्यत्र कहीं नहीं मिलता । ऐसा ही गीता एक अनूठा शब्द है, 'स्वधर्म' गीता का उद्‌भव ही अर्जुन को स्वधर्म का ज्ञान कराने के लिये हुआ था । इस शब्द को विस्तार से समझ लें ।

'स्वधर्म' को हिन्दू, इस्लाम, बौद्ध, जैन, ईसाई या अन्य किसी संस्थागत धर्म के साथ कुछ भी लेना देना नहीं है । ऐसा घोटाला न हो इसलिये गीता के अनेक महत्त्वपूर्ण श्लोकों में से निम्नलिखित एक श्लोक विशेष महत्त्व का माना जाता है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः पर धर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः ।।
अच्छा स्वधर्म, कमीभारा हो सुसेवित परधर्म से
स्वधर्म में मृत्यु है श्रेयकर पर-धर्म भयभरा ।

कमियों भरा स्वधर्म अच्छा है, पर-धर्म सरल हो तो भी व्यर्थ है। ठीक है तो इस स्वधर्म में ऐसा क्या है ? फिर आगे कहते हैं कि स्वधर्म के आचरण में मृत्यु भी कल्याणकारी है । मन में बड़ी उथलपुथल मचाये ऐसी बात है न ।

अर्जुन का स्वधर्म उसके स्व-भाव से उपजा हो सकता है । वह स्वभाव से लड़वैया, क्षत्रिय और युद्ध का नाम लेते ही उत्साह मे भर जाने वाला आदमी था । इस समय मोह के कारण वह किसी संत महात्मा को शोभा दे ऐसे शब्द बोलने लगा है । ऐसा करते हुए वह अपने स्वभाव और स्वधर्म की उपेक्षा कर रहा है । अहिंसा धर्म महान् माना जाता है पर महान् होने के बावजूद अर्जुन के लिए वह पराया-धर्म ही था । अस्तु स्वधर्म माने आदमी के स्वभाव के अनुरूप उसका सहज-धर्म । यह धर्म कहीं ढूंढने जाने की जरूरत नहीं है । वह प्राप्त-कर्म के रूप में आदमी से स्वयं आकर मिलता है ।

बारडोली सत्याग्रह के समय गाँधीजी के निषेध पालन करते हुए भी सरदार वल्लभभाई अपनी अनूठी शैली के अनुसार ही चलते थे । कभी-कभी कार्य-कर्ता उनसे कहते भी थे कि शायद बापू ऐसा न भी करें । सरदार जवाब मे कहते थे, बापू की अहिंसा हमसे जितनी पाली जा सके, उतनी पालनी चाहिए, पर हम उनकी बराबरी नहीं कर सकते ।' सरदार ने तो उनकी अपनी अनुमति बिना बापू को बारडोली न आने की सूचना दी थी और बापू ने उसे शिरोधार्य भी किया था । इस प्रकार सरदार का और बापू का स्वधर्म बिल्कुल ही एक जैसा नहीं हो सकता था । स्वधर्म तो पति और पत्नी का, पिता और पुत्र का, शिक्षक और शिष्य का तथा सैनिक और सेनापति का भी भिन्न हो सकता है । प्रहलाद ने अपने स्वधर्म का पालन किया और पिता के विरुद्ध सत्याग्रह किया । कृष्ण ने अपने सगे मामा का वध किया । स्वधर्म तो एकदम ही व्यक्तिगत विषय है । सुई का अपना धर्म होता है और कैची का अपना स्वधर्म होता है । कुदाल पेड़ काटने में एक दम असमर्थ होती है । कुल्हाड़ी जमीन खोदने के काम नहीं आ सकती । लकड़हारा कुदाल लेकर चले तो काम कैसे चलेगा ? माली का काम कुदाल द्वारा ही हो सकता है । बुलडोजर और ट्रैक्टर एक ही परिवार के हैं पर दोनों के स्वधर्म भिन्न हैं । हर आदमी की प्रकृति अलग-अलग होती है । इसी से तो अंग्रेजी में कहावत बनी है कि पचास वर्ष की उमर में या तो आदमी (अपना) आचार्य होता है या फिर मूर्ख ।

अपने स्वभाव को पहिचान करके जैसे आदमी आहार में पथ्यापथ्य विवेक करना सीखता है, उसी प्रकार उसे अपना सहज धर्म जीवन की शोध द्वारा समझ लेना चाहिए । इस मामले में हमारी अन्तरात्मा ही हमारी कृष्ण है । अन्तरात्मा की आवाज केवल गांधीजी को ही सुनाई दे ऐसा थोड़े ही है । हमें भी सुनाई देती है, पर हम हमेशा उसका अनादर करते-करते रूढ़ हो गये हैं, इसी से कालक्रम में उसे सुनने की शक्ति खो बैठे हैं ।

हमारे सामने एक प्रामाणिक प्रश्न आता है : एक चोर का भी तो अपना स्वधर्म हो सकता है ? वह चोर सहज ढंग से चोरी करे अस्तु यह उसका सहज धर्म नहीं हुआ क्या ? बात विचारणीय है । एक चोर महात्मा के दर्शन करने गया, महात्मा ने कोई भी उपदेश नहीं दिया अस्तु वह थोड़ा परेशान हुआ । उसने हठ किया तो महात्मा ने कहा, 'तू चोरी करना जारी रख, पर एक बात का वचन दे । पूरी जागरूकता के साथ चोरी करना' चोर ने वचन दिया । वह दूसरे दिन जब रात के समय किसी की तिजोरी के पास पहुँचा तब महात्मा को याद कर उसने जागरूकता लाने का प्रयत्न किया । तुरन्त ही उसे ख्याल आया कि, 'यह मैं क्या कर रहा हूँ' किसलिये कर रहा हूँ, ऐसा करके मुझे क्या मिलेगा ? और वह तिजोरी छुवे बिना ही वापस चला गया । चोरी करना उसका स्वभाव था कि मजबूरी ? मजबूरी बिना कोई स्त्री वेश्या बनेगी क्या ? जीवन में हमारे मूल 'स्व' और अर्जित 'स्व' के बीच निरन्तर खींचतान चलती रहती है । हमारा मूल 'स्व' (ओरिजिनल सेल्फ) जब अर्जित 'स्व' (एक्वायर्ड सेल्फ) से दब जाता है तब हमारा स्वभाव और स्वधर्म चरमराने लगता है । मूल स्व पर दुनियादारी का, मजबूरी का, मोह का, माया का, अभिमान का, रिवाजों का, अपेक्षाओं का, दुर्बलता का और दंभ का परत दर परत बोझ लदा होता है । फिर तो ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है कि मूल स्व ढूंढ़े नहीं मिलता । जहाँ 'स्व' खो गया हो वहाँ स्वधर्म या सहज धर्म सहज रह सकता है क्या ?

अवश्य ही कोई पूछेगा, 'तो फिर अर्जुन के मामले में भी वेश्या की भाँति युद्ध क्या मजबूरी नहीं थी ? कोई आदमी सहज अवस्था में सामने खड़े आदमी को मार डालेगा क्या ? उस चोर की भाँति, पूरी जागरूकता के साथ युद्ध के मैदान में किसी का हनन करना संभव है क्या ?' नहीं । जवाब छोटा और सटीक दिया जा सकता है । क्या अर्जुन जागृति (अवेयरनेस) के कारण युद्ध से

दूर रहना चाहता है ? वास्तव में युद्ध करने की उसकी दलीलों के मूल में जागृति नहीं बल्कि मोह है । मोह स्वयं ही जागृति का सबसे बड़ा दुश्मन है । अर्जुन और अशोक के युद्ध विरोध में भेद है । अर्जुन का युद्धविरोध मोहमूलक था, जबकि अशोक का युद्ध-त्याग, वैराग्यमूलक था । कायरता (कार्पण्य) कभी भी जीवन-क्रान्ति का जनक नहीं हो सकता । परम वीरता विना वैराग्य प्रगट ही नहीं हो सकता । रेती और मोती की बराबरी की जा सकती है क्या ?

स्वधर्म का उद्भव स्वभाव में से होता है और हमारा असली, अप्रदूषित (अनपोल्यूटेड) 'स्व' ही हमारे स्वभाव की गंगोत्री है । इसी से पतंजली ने योग सूत्र में योग का महत्त्व समझाते हुए कहा, 'स्वरूपेऽवस्थान', स्वरूप माने अपने असली स्व में स्थिर होना ही 'योग' कहलाता है । कार्ल मार्क्स संबंध-विच्छेद (एलिइयनेशन) की बात करता है । अपने असली 'स्व' से हम इतना दूर हो गये हैं कि उसे पाने के लिए हमें चेष्टा करनी पड़ती है । इससे भी दंभ पैदा होता है । अर्जुन युद्ध के विरोध में जो भाषा बोलता है, वह उसकी अपनी भाषा नहीं है । अर्जुन के अन्दर ही कहीं बैठा, मोह के वशीभूत हुआ और कायर कोई दूसरा अर्जुन बोल रहा है । कृष्ण इस दूसरे अर्जुन को देख सकते हैं, इसलिये असली अर्जुन को झकझोर कर कह सकते हैं—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'

इन सब माथापच्चियों का मूल कहाँ है ?

इन्द्रियों के अपने-अपने विषय (इन्द्रियार्थन) होते हैं । पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाचा, हाथ, पैर, मलद्वार, जननेन्द्रिय) तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (त्वचा, चक्षु, कान, जीभ और नाक) मिलकर हमारे शरीर (इन्द्रियग्राम) का कामकाज चलाती हैं । कर्मेन्द्रिया स्थूल हैं जबकि ज्ञानेन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं । आँख देख सकती है यह ऊपर से दिखाई पड़े ऐसी सरल बात नहीं है । आँख में मोतियाबिंद हो जाता है तब समझ में आता है कि आँख अपने स्थान पर होती है फिर भी सब कुछ धुंधला पड़ जाता है । हमारी नाक बड़ी सूक्ष्म कारीगरी करती है । राह से गुजर रहे हों तब किसी के घर से देसी घी में आटे और गुड़ से बने लड्डू की सुगंध केवल ब्राह्मण का ही आवे ऐसी बात नहीं है । दूर कहीं दाल को छौंक लगने की खबर नाक द्वारा मिल जाती है । नाक की ऐसी कार्य कुशलता यदि कम्प्यूटर को निभानी हो तो ? सच बात यह है कि हमने अपनी नाक को सच्चे प्रशंसात्मक भाव से कभी देखा ही नहीं है । गीता कहती है—

इन्द्रियस्येन्द्रिय स्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।।
इन्द्रियों में स्व अर्थो में राग द्वेष यदि रहें,
उनको वश होना नहीं, देह के बटमार वे ।

यह मौलिक बात है । हमारी प्रत्येक ज्ञानेनद्रियों के भी अपने अपने रागद्वेष होते हैं । राग का परिणाम आकर्षण है, जबकि द्वेष का परिणाम अपकर्षण है । इन्द्रियों के स्तर पर भी राग-द्वेष हो सकता है—यह बात तुरन्त हमारे ध्यान में नहीं आती । क्रम से वह बात समझ लें—

१. त्वचा—हमारी चमड़ी को जाड़े में गरम पानी के प्रति राग होता है और ठंडे पानी से द्वेष होता है । गर्मी में इसका उल्टा होता है ।

२. कान—हमारे कान को हमारी प्रशंसा के प्रति राग होता है और हमारी निन्दा के प्रति द्वेष होता है । संगीत के प्रति राग और कोलाहल के प्रति या नापसंद आवाज के प्रति द्वेष होता है ।

३. आँख—हमारी आँख को सुन्दर वस्तु, व्यक्ति या आकृति के प्रति राग होता है और कुरूप चीजों के प्रति द्वेष या अपाकर्षण होता है ।

४. नाक—नाक को सुगंध प्रति राग होता है, दुर्गन्ध के प्रति द्वेष होता है । इत्र के प्रति राग होता है, डी० डी० टी० की बदबू के प्रति द्वेष होता है ।

५. जीभ—जीभ को स्वादिष्ट व्यंजनों के प्रति राग होता है और बेस्वाद व्यंजनों के प्रति द्वेष होता है ।

लोग चाकलेट या पीपरमेण्ट मुँह में रखकर चुभलाया करते हैं, यह है स्वादेन्द्रिय का राग पर इसी प्रकार कोई सुदर्शन चूर्ण मुँह में रखकर नहीं घुलाता ।

सब कुछ सुन लेने के बाद अर्जुन पूछता है, 'आदमी रागद्वेष से उत्पन्न पापों में फंसता है मानो बरजबरी घसीटा जाता हो, इसका रहस्य क्या है ?' बात सच है । साँझ के समय दाल-रोटी मिल जाय इसके लिये लोग दिनभर ब्यौरा करते रहते हैं । फिर वे अपनी जरूरतें बढ़ाते चलते हैं और उन्हें पूरी करने के लिए बैल की तरह और अधिक खटते हैं । बहुत से लोगों को जीने की अपेक्षा धन कमाने में अधिक आनन्द आता है । वे पैसा कमाने में इतना अधिक समय नष्ट करते हैं कि कमाये हुए पैसे उड़ा देने का सारा कष्ट उनकी संतान के जिम्मे आ पड़ता है । कवि दुलाकाग ने गाँठ बाँधने की बात कही है, 'कलजुग मां माणस हखी थवा, हारे दुखी थशे' अर्थात् कलियुग में आदमी सुखी होने के लिये दुखी होगा ।

सब सुखी होने के लिए हाय-हाय करते हैं, पर सुख मिले उससे पहले दुख सहते ही जाते हैं । घड़ीभर रुक कर कोई अपने आप से यह नहीं पूछता कि यह सब आखिर किसलिये और किसके वास्ते ? अर्जुन का प्रश्न वास्तव में हमारा प्रश्न है । हेनरी डेविड़ थोरे ने कोनकोर्ड से दूर वॉल्डन सरोवर के किनारे जीवन की मस्ती पायी थी क्योंकि वह घड़ी भर रुककर जीवन को निरखना चाहता था । जीने के लिए उचित कारणों की शोध के अभाव में हम बस जीते चले जाते हैं ।

कृष्ण उत्तर मे कहते हैं, 'रजोगुणी माया ही हमारे काम और क्रोध के लिये उत्तरदायी है ।' इन्द्रिय राग मन की कक्षा में 'काम' (विषय) बनता है, जिसको गीता 'इन्द्रियार्थ' कहती है । इसी प्रकार इन्द्रिय कक्षा का द्वेष, मन की कक्षा में क्रोध बन कर हमें सताता है । फिर आगे कहते हैं कि जैसे धूवें से अग्नि, मैल से आइना और झिल्ली से गर्भ ढंक जाता है वैसे ही इस काम क्रोध से ज्ञान ढंका रहता है । ईशोपनिषद् में यही बात जरा अलग ढंग से कही है—

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं

हिरण्यमय मायावी पात्र से सत्य का मुख ढका है ।

ज्ञान प्राप्ति की साधना वास्तव में अनावरण की साधना है । राग और द्वेष और काम और क्रोध के मायाजाल में ज्ञान फंसा पड़ा है । इस प्रकार मानव के स्थायी दुश्मन काम और क्रोध हैं । यहाँ 'दुश्मन' शब्द को समझ लेना है । मूलतः फारसी के इस शब्द का अर्थ होता है शत्रु । वास्तव में तो उसके मूल में शायद 'दूष' धातु विद्यमान प्रतीत होता है । 'दूष' माने 'दूषित' होना । 'दूष+मन' माने जिससे मन दूषित होता हो । यह हमारा अनुभव है । संक्षेप में काम और क्रोध माने मन के प्रदूषण के लिए उत्तरदायी तत्त्व । 'मन गंदा होता है' यह भाषा भी ठीक नहीं लगती । प्रदूषण जैसे पर्यावरण की लय भंग करते हैं, वैसे ही काम और क्रोध मन की सहज लय को बिगाड़ते हैं, प्रक्षोभ, पैदा करते हैं और मन की स्वस्थता पर प्रहार होता है । स्वस्थ-मन ज्ञानप्राप्ति की पूर्वशर्त है । स्वस्थ मन के बिना स्थितप्रज्ञता असंभव होती है । इस कारण काम और क्रोध से बचना होगा । आत्मभाव का विकास करते रहकर इन्हें ठंडा किया जा सकता है । रजोगुण में से उत्पन्न हुए ये जुड़वांभाई हमें दौड़ाते रहते हैं, और हम दौड़ते रहते हैं, कहाँ पहुँचना है इसकी परवाह किये बिना दौड़ते चले जाते हैं । जीवन ध्येय तक पहुँचने के लिए स्टेशन छोड़कर चली हमारी ट्रेन की शंटिंग होने लगती है और हम ध्येय तक पहुँचने के बदले रेलवे-यार्ड में पहुँच जाते हैं ।

इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे के सूक्ष्म तत्व

जीवन में विद्यमान बुनियादी एकता ऐसी है कि गीताकार, सांख्ययोग और कर्मयोग के कोष्ट बनाकर दोनों को एकदम अलग नहीं रख सकते । गीताकार को कर्म की स्थूलता में नहीं, बल्कि स्थूलकर्म से जुड़ते फलत्याग में से उत्पन्न आत्मभाव में रस है । सांख्ययोग में सूक्ष्म

की महिमा गाने के बाद कर्मयोग की चर्चा अन्त में करके पुनः सूक्ष्म प्रवेश के इरादे से गीताकार कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परं बुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः ।।
इन्द्रियों को कहे सूक्ष्म, इन्द्रियों से है मन
मन से सूक्ष्म है बुद्धि, बुद्धि से सूक्ष्म वह है ।।

इस प्रकार एक ही श्लोक में गीताकार हमें पुनः स्थूल से सूक्ष्म की ओर की यात्रा कराते हैं । इस सूक्ष्म यात्रा के सोपान इस प्रकार है—

आत्मा
बुद्धि
मन
ज्ञानेन्द्रियाँ
कर्मेन्द्रियाँ

स्थूल - - - - - - - - - - - - -→सूक्ष्मतत्व

कर्म- - →कर्मफल त्याग - - →यज्ञ-भावना- →कर्मयोग

इन्द्रियों के रागद्वेष मन को कोंचते हैं इससे 'विषय' (इन्द्रियार्थान) पैदा होते हैं और मन की लय स्खलित होती है फलतः विवेकशक्ति नष्ट होती है । जव विवेक शक्ति (डिस्क्रीशन) नष्ट होती है तो ज्ञान तितर-बितर हो जाता है । ज्ञान माने आत्मभाव । कर्मयोग में कर्म को कला का स्थान मिलता है, यह वात हम कह चुके हैं । एक प्रकार से देखें तो मजदूर, कारीगर और कलाकार के बीच बुनियादी अन्तर सूक्ष्मता (फाइननेस) का ही है न । गीताकार कला की कक्षा पर अटक जाने को तत्पर नहीं है । वे हमें अभी और अधिक सूक्ष्मता जान लेने को प्रेरित करते हैं । कलाकार के कर्म को फल-त्याग की भावना में पिघलाकर, उसमें यज्ञभावना उद्वेलिता कर, कर्मयोग में ले जाने का रास्ता कृष्ण ने हमें इस अध्याय में बताया है । इस हेतु हमारे कर्मो पर हृदय का रंग चढ़ना चाहिए ।

ब्रह्मविद्या की पाठ्यपुस्तकों जैसे हमारे उपनिषदों में सूक्ष्म की वहुत गहरी पैठ हुई है । सूक्ष्म और कर्म के बीच कोई विरोध नहीं हो सकता । दृश्य स्थूल कर्म जब आत्मभाव प्रगट करता है तब कैसी मस्ती में परिणित होता है यह कबीर की निम्नांकित पंक्तियों में देखा जा सकता है—

काहे का ताना, काहे कै भरनी
कौन तार से बिनी चदरिया,
इंगला पिंगला ताना भरनी
सुषमन तार से बिनी चदरिया,
आठ कंवल दस चरखा डोलै
पाँच तत्त्व, गुन तिनी चदरिया,
दास कबीर जतन से ओढ़ी
ज्यों की त्यों धर दिनी चदरिया,
झीनी झीनी रे बिनी चदरिया ।

चादर बुनने का काम स्थूल माना जायगा । पर जब बुनकर कबीर हों तब पूछना ही क्या । मुझे कबीर जी बहुत अच्छे लगते हैं । उन्होंने भगवान् को 'साहब' कहा । कबीर का जीवन 'साहब' की बंदगी में बीता । मीरां ने भी 'म्हाने चाकर राखो जी' कहकर कृष्ण की चाकरी माँग ली । चादर बुनने के कर्म का सूक्ष्म प्रवेश तो देखिये । एक ही छलांग में कबीर ने सिद्ध योगियों द्वारा दी गयी इंगला-पिंगला तथा सुषुम्ना नाड़ी की बात कह डाली । फिर आठ कँवल (अष्टांग दो हाथ, दो पैर, दो घुटने, छाती और ललाट) दस चरखा (पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय, पंचमहाभूतों (तत्त्वों की और तीन गुणों की (सत्-तम-रज) बात एक ही पंक्ति में बुनकर चादर बुनने के कर्म को सूक्ष्म में प्रविष्ट कराया । कर्म का महत्त्व नहीं है, वह कौन और किस भावना से करता है, इसका महत्व है । केवल भावना के कारण ही तो सूर्य को सूर्यनारायण का पद प्राप्त होता है ।

कर्मयोग की ऐसी सुन्दर मीमांसा, हमें भाव में सराबोर कर देती है । सूक्ष्म और कर्म आमने सामने नहीं, आजुबाजु ओतप्रोत हों तब आत्मभाव प्रगट होता है । ईशोपनिषद् के मंत्र में कर्म का मर्म इस प्रकार गाया गया है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्मलिप्यते नरे ।

कवि जुगतराम दवे ने इस मंत्र का अनुवाद अपने ढंग से इस प्रकार किया है—

काम करो बहु, खूब घसाओं
सुखे शतायु थाओ ।
मानव तुज पथ आज अवर नहीं
कर्म कां गभराओ

कर्मयोग को रहस्य बतलानेवाले इस अध्याय का निचोड़ एक ही वाक्य में देना हो तो रविशंकर महाराज का वाक्य जीवन में उतारने लायक है, 'घसाई ऊजलां थइये' (घिसकर उजले हों) कुदाल का पत्तर जमीन के साथ घिस-घिस कर चांदी की सी चमक प्राप्त करता है ।

उपसंहार

दो कूप पास-पास हों तो भी अलग गिने जाते हैं । थाले पर ध्यान दें तो यह पृथक भाव स्पष्ट दिखेगा, परन्तु धरती के अन्दर बहते पानी की दृष्टि से दोनों कूप भिन्न नहीं है । लोग हौदी भी कूप से दूर रखते हैं । इस प्रकार जो अलग दिखते हैं ऐसे दो कूप पानी की धारा की दृष्टि से जुड़े हुए हैं । फिर गाँव से दूर बहती नदी के साथ भी कूवें के पानी का सम्बन्ध होता है । हमारा प्रत्येक कर्म समष्टि के साथ सम्बन्धित होता है । कूप और कूपजल पृथक नहीं है । कर्म का नियम गुरुत्वाकर्षण के नियम जैसा निरपवाद और निष्पक्ष है । भगवान् भी उसमें हस्तक्षेप नहीं करता ।

आदमी माने आदमी का कर्म । कर्म बाँधता नहीं, कर्म के फल की लालसा बाँधती है । निष्काम भाव से कर्म करता कर्मयोगी तो संसार में रहकर स्वराज्य का भोग करता है । ➤

गुजराती से अनुवाद : *डॉ० भानुशंकर मेहता*

रुद्राक्ष

अथ हैनं भगवन्तम् कालाग्नि रुद्रं भुशुण्डी प्रपच्छ ।

एक बार कालाग्नि रुद्र से भुशुण्ड ने पूछा—अलग-अलग मुखोंवाले रुद्राक्षों का क्या महत्त्व है ? कालाग्नि ने उत्तर दिया ।

एक मुखवाला रुद्राक्ष परतत्व का पर्याय माना जाता है । उसे धारण करनेवाला शिव में लीन हो जाता है । दो मुखवाला रुद्राक्ष अर्धनारीश्वर का स्वरूप समझा जाता है । तीन मुखवाला रुद्राक्ष तीन अग्नियों का प्रतिनिधित्व करता है । चार मुखवाला रुद्राक्ष चतुर्भुज भगवान् का सान्निध्य देता है । पांच मुखवाला रुद्राक्ष पंचमुखी शिव का स्वरूप समझा जाता है । छह मुखवाला रुद्राक्ष कार्तिकेय को प्रसन्न करता है, उसे धारण करने से सौंदर्य प्राप्ति होती है । विद्वान् लोग इसे गणेश का प्रतिरूप भी मानते हैं । सात मुखवाला रुद्राक्ष सप्तमातृकाओं को प्रिय है । आठ मुखवाला रुद्राक्ष श्री वृद्धि करता है यह अष्टवसुओं को भी प्रिय है । नौ मुखवाला रुद्राक्ष नौ देवियों को प्रसन्न करता है । दस मुखवाला रुद्राक्ष यम देवता को प्रिय है इसे देखने मात्र से शान्ति मिलती है । ग्यारह मुखवाला रुद्राक्ष एकादश रुद्र का प्रतीक है । बारह मुखवाला रुद्राक्ष महाविष्णु का स्वरूप समझा जाता है । तेरह मुखवाला रुद्राक्ष सिद्धियों को देने वाला है । अन्त में चौदह मुखवाला रुद्राक्ष रुद्र की आंख ही है। इसे धारण करने से मनुष्य सौ वर्ष तक निरोग जीवन जीकर मोक्ष पा लेता है ।

(रुद्राक्षजावालोपनिषद्)

गंगायै नमो नमः

नदी जीवन-देवता

श्री कुबेरनाथ राय

नदी माता । नदी पतितपावनी । विमल नारि का शान्त धीर विस्तार । नदी का ध्यान-तरंगायित रूप । कहीं को विकलता नहीं, उद्दामता नहीं, कोई उन्मत्तता या अवदमन नहीं । यह नदी एक धीरा नायिका है, पर है नायिका । महातापसी होते हुए भी अंग-प्रत्यंग से नायिका है । लहरों में तैरती देह में संवेदना हो, किसी अविकल शान्त समाहित बोध में स्थित मन हो, किसी गम्भीर सुख में धीरे-धीरे बहता हुआ प्रवाहित मन हो, वैसा कुछ है इस नदी का रूप । यह नदी तो है ही है । परन्तु नदी से भी कही अधिक यह एक मनोमय विम्ब है । हमारी भारतीय जाति की परमस्मृति में युग युगान्तर से प्रवहमान एक बिम्ब ।

मैं गंगा तट पर सुबह-सुबह बैठा हूँ । निर्मल पानी का प्रस्तार । उससे निकलती हुई एक सद्यः स्नातानारी । भरी हुई चतुरंगदेह । पतली लताओं जैसी राजसी तनुता नहीं । बल्कि मुकुलित आम्रवृक्ष जैसी वपुता वाली नारी देह । न्यग्रोध परिमण्डला की संज्ञा ऐसी दो देह के लिए पुराने रस शास्त्र ने निर्धारित की है । कुच कलशों वाली नितम्बिनी देह । सुन्दर श्यामल मुख के साथ अंग-अंग में परिश्रम की महिमा द्वारा अर्जित पुष्टि और तुष्टि । यह देह गंगा तट की वाण भूमि में लम्बी यष्टि वाले ज्वार, बाजरा और ईख के खेतों की शोभा है । यह देह नदी वक्ष पर लहरों से बाहु युद्ध करती हुई और डांड खेते हुए शोभा पाती है । यह देह भिनसारे सुबह-सुबह धान कूटते हुए, गीत मुखरित कण्ठ के साथ चक्की चलाते हुए, संध्या को तुलसी चौरे पर दीपक अर्पित करते हुए अपनी असली छवि धारण करती है । एक सुडौल पुष्ट देह बायें हाथ पर भरा हुआ जल कलश, बांये हाथ से वक्ष से घुटने तक चिपके हुए भीगे वस्त्र को संभालती हुई जल से निकलती हुई नारी मूर्ति । कलश भी अलंकरण विहीन सादा मिट्टी का घड़ा मात्र है जिसके मुँह से पानी छलक रहा है । हथेलियाँ मानों लाल-लाल पद्म पाँखुरियाँ, लोचन मानों पद्मपलाश लोचन । देह-गंध वाली नारी जल से भरे कलश को लेकर नदी से निकल रही है । पद्म की मीठी कषाय गंध, रोहित मझली की गंध, कच्चे शैवाल की गंध । देह क्या है गंधवती उर्वरा मृतिका है । चेहरे पर सत्यनिष्ठा के प्रति समर्पण की तरह धनुषाकृति भौहें है और भौंहों के नीचे स्नान से प्रसन्न निर्मल नेत्र हैं । पायस घट जैसी सरस देह वाली चरुपाक जैसी पवित्र देहवाली एक नारी जल से बाहर निकल रही है । एक पुष्ट स्वस्थ दीर्घांगी नारी जल से त्वरापूर्वक बाहर निकल रही है । सबरसा कामधेनु जैसी क्षिप्रपगों से पुष्टि प्राण और रस से छलकती देह वाली एक नारी जल से बाहर निकल रही है । वामहस्त से नीवीवंध पर अंग वस्त्रों को संभालती हुई तथा दक्षिणहस्त पर मगंलमय भरे कलश के साथ यह नारी इस नदी के धात्री, जननी, माँ और नायिका रूप के साथ एकाकार हो रही है । नदी भी नारी है, 'नार' अर्थात् जल वाली है । नदी भी तो नारी की ही तरह जलवती, सोमवती, दुग्धवती, सत्ता है । भरी हुई देह से मेल खाता हुआ नदी का छलकता हुआ तरंगायित रूप । अतः नदी और नारी की यह सम्मिलित छवि नदी की भावसत्ता का एक दूसरा बिम्ब रचती है ।

जल देवी का निराकार रूप है । जलधारा ही इस पापहरा नदी की सहज स्वाभाविक प्रतिमा है । हम जो

भारतीय हैं, इस जलधारा को नदी मातृका नहीं उसकी प्रतिमा मात्र मानते हैं । नदी मातृका के इस स्थूलतर रूप के पीछे छिपा है उसका सूक्ष्म रूप, दिव्यरूप । यह दिव्य रूप ही भगवती शक्ति है । तरुणी मुखमण्डल सिर पर जहाँ जूट है जिसमें पुण्य गुंथे हैं । ललाट पर चन्दन । शान्त स्निग्ध करुणा बरसाती हुई आँखें । एक हाथ में रस कुम्भ, दूसरे में श्वेत कमल । बगल में जल के बाहर रह रहकर निकलता हुआ स्वर्ण मकर । एकान्त चाँदनी रातों में सुनसान संध्या स्थलों पर इस प्रतिमा की झलक मिल जाती है । यों तांत्रिकों ने माना है मकर पर कमल, कमल पर देवी । मकर मनुष्य का तमोगुणी मन है जो निरन्तर दिव्य जल के परिवेश में रहते-रहते सुन्दर और श्री का वाहन बननने की योग्यता प्राप्त कर लेता है । विकराल के ऊपर ही सुन्दर और सत्य का आसन प्रतिष्ठित होता है । नींव में तो स्थूल तमसाच्छन्न शक्तिधर महाभूत ही है । सत्य और सहज सुन्दर के अनुशासन में वे ही मांगलिक भूमिका ग्रहण कर लेते हैं । भारतीय देवी-देवताओं के ध्यान बिम्ब का मूल रहस्य यही है । वस्तुतः देवताओं के ये सारे ध्यान बिम्ब हमारे गरजते हुए दुधर्ष मन की छवियाँ ही हैं जो किसी परा बोध के प्रभाव को ग्रहण करके शुभ मुद्रा धारण कर लेता है । हमारे तंत्र साहित्य का एक-एक ध्यान हमारे मन की शुभ मुद्राओं को व्यक्त करता है और शुभमुद्रा धारी अपने ही मन को हम अपने देवता के रूप में पहचानते हैं और हमारा मन ही है जो देवरूप धारण करके अभीष्ट देवता के साथ वाहन रूप में जुड़ जाता है—अपनी सारी शरारत, सारी आवर्जना और अश्लीलता को त्याग कर ।

यों तो हर एक नदी ही अप्सरा रूपा है । गंगा भी कभी मात्र अप्सरा ही थी, जब कि इस देश के मुख्य देवता यक्ष, गंधर्व और अप्पसरा गण थे । परन्तु कालान्तर में गंगा की महिमा का दिव्यतर रूपान्तर हो गया । वह देवता बन गयी । गंगोत्री से गंगाद्वार, गंगाद्वार से प्रयाग, प्रयाग से वाराणसी, वाराणसी से बिहार-बंग भूमि में बहती हुई सागर संगम तक जाती हैं । इसके घाट-घाट पर, तीर्थ-तीर्थ में जीवन की रंग-बिरंगी पातें उतरती हैं । नारियों के गीत मुखर छन्दों व लयों में चलते हैं । शिशुओं के कोलाहल से वहाँ सा चेहरा मनोरम और मनसायन हो उठता है । भय और अशुभ के भूतप्रेत दूर बहुत अपसरित हो जाते हैं । प्रत्येक सद्यःस्नाता वधू अपने भीगे आंचल को संभालती हुई त्वरा से चल के बाहर निकलती है । उसके श्रद्धादीप्त मुखमण्डल पर नदी देवता का दिव्य भावावेश रहता है । पियरी चुनरी या रंगीन पटरा पाड़ साड़ी पहने प्रत्येक ग्राम वधू ही सुरसरि रूपा लगती है । एक-एक वधू एक-एक गंगा ही अपने परिवार को सींचती हुई, उसे दूध-भात बाँटती हुई । गंगोत्री से सागर संगम तक अनुदिन सहस्र-सहस्र हाथों की अंजलियाँ नदी की अभ्यर्थना में फूलों की अँजुरी निक्षिप्त करती हैं । इसकी धारा में 'सोंठ गुड़ लौंग' या दूध की 'धार' अर्पित करती हैं । सहस्र-सहस्र हाथ के साथ-साथ सहस्र-सहस्र मन और उन सहस्र-सहस्र मनों से जुड़े सहस्र-सहस्र ग्राम-पल्ली और नगर । यानी समूचा लोक़ जीवन ही इस नदी प्रवाह के साथ एकाकार होकर बहता है । प्रति प्रातः और संध्या को तट भूमि की ढलान पर रंभाती गायों और आनन्द से उछलते कूदते 'माँकते' हुए गोवत्सों के झुण्ड उतरतै हैं । काली, गौरी, धवली, चितकबरी, धेनु, बकेन, तरह-तरह की गायें । एक-एक गाय एक-एक गंगा जैसी लगती है । काली गंगा, धवली गंगा, गौरी गंगा वस्तुतः गंगातट पर सुरसरि की जलधारा, सुरभी और सुहागिनी तीनों की एकचित्र छवि, उसी नदी देवता का बोध प्रदान करती है, जो अदृश्य रूप से स्वर्णमकर पर सवार होकर किशोर मुखमण्डल पर जटाजूट बाँधे, श्वेत फूलों का पुष्प शृंगार किए हुए एक हाथ में रसकुम्भ दूसरे में श्वेत पद्म धारण किए हुए गंगोत्री से सागर संगम तक विचरण रत है । मैं तो जब-जब अपने गाँव नगर के गंगा तट के बारे में चिन्तन करता हूँ तब-तब मन में इस जीवन देवता की अनेक छवियों के विम्ब उतराने और तिरोहित होने लगते हैं । मन के भीतर एक मेला सा जुड़ जाता है । अनेक साँवरे-सलोने या गोरे-गोरे मुखड़े, अनेक तरल नेत्र, अनेक ममताभरी या करुणामयी आँखें । पुत्री, वधू, माता

और तापसी रूपों के अनेक-अनेक विम्ब उनसे जुड़े जीवन के अनेक दृश्य-पट । वस्तुतः हमारी प्रार्थना के, प्रेम के परिश्रम के और सुख-दुःख के अनेक दृश्य जुड़े हैं इस नदी के साथ । चेहरे का पसीना पोंछते हाथ, फसल काटते, दूध दूहते, धान कूटते हाथ, कुदाल चलाते हाथ, नौका खेते हाथ । जन्म और विवाह की शोभा यात्राएँ, आर पार की अर्पित मालाएँ और उसी के साथ उदास शव यात्रा, तथा तट के पास जलाई चिताएँ सब कुछ यहाँ पर हैं । इन सारे दृश्यों की सम्मिलित संज्ञा हो सकती है 'जीवन' और जो दिव्य शक्ति इन स्थूल दृश्यों के पीछे सक्रिय होकर अपने को व्यक्त कर रही है उसकी ही संज्ञा है 'जीवन' देवता । अवश्य ही यह शब्द रवीन्द्रनाथ का है । परन्तु में इसे गंगा नदी के संदर्भ में विशेष सटीक मान कर प्रयुक्त कर रहा हूँ । मैं इसे कवि के विश्व जीवन से किसी अधिक नजदीकी और ठोस तथ्यों के लोक जीवन से जोड़कर देख रहा हूँ और सबसे बढ़कर यह कि जीवन देवता का अर्थ ही होता है जल देवता । जीवन जल का ही नाम है । हम जो गंगा तटीय भारतीय हैं, हमारे लिए जीवनलीला के मूल में है जल लीला । हमारी मिट्टी, हमारी फसल, हमारी रोटी दाल सब कुछ तो इस नदी जल की ही लीला का, उसी की नवरसमयी भूमि का अवदान है । अतः यह शब्द हमारे लिए अधिक सार्थक है । यह नदी सचमुच ही हमारे लिए 'जीवन देवता' है ।

विष्णु-पग और गंगाजल भारतीय मानस में शुचिता और पवित्रता की आखिरी सीमाएँ हैं । विमलवारि, निर्मल जल, पुण्य तोया, गंगोदक, विमलोदक, पापहरा, पतित पावनी, पुण्य सलिला आदि अनेक शब्द इस नदी और उसके जल से सहज भाव से जुड़े चलते हैं । यह नदी लोक संस्कारों में पावनता, प्रक्षालन, उद्धार, मोक्ष, तपस और ज्ञान-वैराग्य का जल विम्ब रचती है । इस नदी का स्मरण करना, इसके बारे में सोचना भी, मानस-स्नान माना जाता है । सरस्वती की तरह वैदिक गरिमा वाली नदी न होते हुए भी गंगा अपनी पौराणिक और लोकायत महिमा के कारण भारतिय इतिहास और संस्कृति के साथ अनन्य हो गयी है । 'देशी' और 'मार्गी' दोनों संस्कार पथों से समान भाव से जुड़ी तो यह है ही—इससे भी बढ़कर यह हमारी समूची 'विश्वदृष्टि' का प्रतीक बन गयी है । जिसे हम आज भारतीय या भारतीय दृष्टि कहते हैं, वह वैदिक आर्य दृष्टि से उद्भूत होते हुए भी उससे बहुत कुछ भिन्न समन्वित भारतीय दृष्टि है जिसमें आर्य-आर्येतर तत्वों का दुग्ध-शर्करा जैसा समन्वय हुआ है । उस समन्वय की भूमि रही है यही गंगा-यमुना की घाटी । विशेषतः गांगेय संस्कृति ही भारतीय संस्कृति की बीज रूपा है । काशी कोशल की भूमि ही उस संस्कृति की पहली फसल तैयार करती है जो गंगा की देन है । काशी-कोशल की केन्द्रीय प्राणधारा होने के कारण ही गंगा भारतीय मन में एक विराट भाव प्रतीक बन कर स्थित है । भारतीय धर्म साधना और भारतीय संस्कृति दोनों का विशुद्ध स्वरूप 'गंगा' प्रतीक के माध्यम से शतशः व्यक्त हो जाता है ।

धर्म और संस्कृति दोनों ही बाह्य कलेवर में भेद होने के बावजूद एक ही लक्ष्य को लेकर चलते हैं । अवश्य ही मेरा तात्पर्य संस्कृति के पुरानने अर्थ से है जिसका प्रयोग परिष्कार और प्रक्षालन के संदर्भ में होता है और जिससे सुसंस्कृत तथा संस्कारवान् जैसे शब्द जुड़े हैं, यानी 'कल्चर' के आधुनिक नृतत्व शास्त्रीय और समाज शास्त्रीय अर्थ में नहीं जिसका मतलव होता है जीवन पद्धति का स्थूल रूप या सम्पूर्ण जीवन प्रणाली । यह नया अर्थ वैज्ञानिक होते हुए भी दोष पूर्ण है क्योंकि इसमें शिव-अशिव, सुन्दर-कुरूप और सही-गलत के भेद की कोई कसौटी नहीं । जो कुछ हम करते हैं वह सब कुछ नये अर्थ में हमारी 'संस्कृति' कही जायेगी । परन्तु हमारे कर्मों का एक अंश ऐसा भी है जिसे संस्कृति की जगह पर विकृति कहना ज्यादा सटीक होगा । हिंसा, उग्रवादिता और मनोविकारों का निस्संकोच पोषण संस्कृति के अंग नहीं कहे जा सकते । अतः संस्कृति की एक नैतिक कसौटी ही स्वीकृत करनी होगी । इसकी पुरानी अवधारणा

इसी नैतिक कसौटी पर आश्रित है । संस्कृति की पुरानी अवधारणा के मूल में है नैतिक मूल्यबोध और इस धर्म और संस्कृति में लक्ष्यगत अभेद है । संस्कृति और कुछ नहीं धर्म साधन का ही सेक्यूलर लोकामत रूप है । दोनों का चरम उद्देश्य एक ही है और वह है पावनता, पवित्रता, संयम, परिष्कार, प्रक्षालन, आवर्जना-मुक्ति, अवदमनों से मुक्ति । दोनों के द्वारा मनोविकारों को संयमित और सहजरूप करते हैं । दोनों की आवश्यकता है उत्कर्ष और अभ्युदय की सिद्धि के लिए । मनुष्यजाति के प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार के वाङ्मय प्रायः इस बात पर सहमत हैं कि अभ्युदय या उत्कर्ष का मानदण्ड है अपने मनोविकारों को संयमित करने की क्षमता । चाहे वह व्यक्ति हो अथवा राष्ट्र हो जितने अंशों तक अपनी कामना की उग्रता का संयमन कर गया है । उतने ही अंश तक वह संस्कृति-सम्पन्न और उन्नत कहे जाने का अधिकारी है । संक्षेप में संस्कृति और धर्म दोनों ही संयम और परिष्कार के पथ हैं और दोनों का ही उद्देश्य है व्यक्ति या राष्ट्र को एक विशिष्ट 'शील' प्रदान करना । शील-सौन्दर्य दोनों के आहरण के पथ हैं धर्म और संस्कृति । दोनों की क्रिया के ढाँचे में अन्तर आने का कारण यह है कि धर्म प्रमुखता देता है । शील-बल के आहरण पर और इसके लिए अधिक दृढ़तर अनुशासन चाहिए, जबकि संस्कृति प्रमुखता देती है शील-सौन्दर्य की लब्धि पर । शील में दृढ़ता के साथ-साथ सौन्दर्य की प्राप्ति जरूरी है, क्योंक दृढ़ता या बल यदि किसी परिष्कृत भावबोध से जुड़े नहीं रहेंगे तो उनके दानवीय या क्रूर हो जाने का खतरा है ।

गंगा जिस धर्म, संस्कृति एवं जिस जातीय दृष्टि (वेल्तान शाउंग) की प्रतीक है वह शील-प्रधान है । यह काशी कोशल की नदी है और इस भूमि के संस्कारों में शील यानी आचरण-सौन्दर्य का ही प्राधान्य रहा है । 'काशी', 'कोशल', और 'गंगा' में तीनों संज्ञाएँ आर्येतर भाषा से आयी हैं । ये तीनों शब्द निषाद भाषा या विभिन्न किरात-निषाद बोलियों से उद्भूत हैं । इस क्षेत्र की भी सांस्कृतिक नींव भारत के अन्य क्षेत्रों की ही तरह आर्येतर ही है । परन्तु आर्येतर का आर्यीकरण जितना सघन और प्रगाढ़ इस क्षेत्र में हुआ है उतना अन्यत्र नहीं । आर्येतर कोमलता और सौन्दर्य बोध के साथ-साथ उनके समान ही, आर्य प्रकृति का बल, संयम, अनुशासन और कर्तव्य बोध इस देश के शील—स्वभाव की प्रमुख विशेषता है, ऐसे ही शील-स्वभाव का महाकाव्य है रामायण । गंगा रामायण के नायकों की वंश-कीर्ति है और भवभूति ने, जो इस नदी को 'रघुकुल देवि-देवता' कहा है, वह बड़ा ही सटीक है । रामकथा और गंगा नदी दोनों का प्रवाह समान शील वाला है । यह कहना कठिन है कि वाल्मीकि की वाङ्मयी गंगा अधिक पवित्र है या विधाता की जल मयी गंगा । यह नदी हमारे खेतों को मिट्टी देती है । सींचती है और हमें मीठा जल देती है । परन्तु यह सब तो विश्व की एक नदी करती है । विश्व की हर एक नदी ही मीठी है, दुग्ध तोया है, माँ जैसी है । परन्तु गंगा को हम इन सब बातों के अतिरिक्त पुण्यतोया, पापहरिणी, मोक्षदायिनी भी मानते हैं और इसे परमा प्रकृति की प्रतिमा मानते हैं । भारतीयों के मन में यह मात्र जल धारा नहीं साक्षात् ईश्वर है । इसी से परम्परागत रूप में यह विशिष्टतम भारतीय नदी है । भारत में शिल्प, कला, जीवन चर्या या भौतिक मानसिक उपलब्धियों के महत्त्व की चरम कसौटी यही है कि वे हमें किस सीमा तक, कितनी दूर तक मोक्ष के निकट ले जाती हैं, यानी कितनी दूर तक ये हमारे मन कको अवदमन-मुक्त और व्रण-मुक्त करती हैं, किस सीमा तक उनके द्वारा मानसिक निरुजता और विश्रान्ति का अनुभव होता है । जो जितना ही हमें मोक्ष के निकट पहुँचाये उतना ही अधिक वह महत्त्वपूर्ण है । यों भी वैज्ञानिकों का कथन है कि हर एक नदी में अपने अन्दर निक्षिप्त प्रदूषण को स्वयं ही शुद्ध कर लेने की थोड़ी बहुत क्षमता रहती है और गंगावारि में यह शुद्धिकरण की क्षमता सर्वोच्च है । परन्तु हमारा तात्पर्य भौतिक रुजों और प्रदूषणों से ही नहीं बल्कि मानस रुजों और मानसिक प्रदूषणों से है जो हमारे आन्तरिक जीवन को नित प्रति क्षयिष्णु बनाये हुए है । हमारा लोक

विश्वास है कि गंगा-दर्शन, गंगा-स्पर्श और गंगोदक का आचमन तथा गंगास्नान हमें मोक्ष मार्ग पर बड़ी दूर तक ले जाता है । परन्तु जैसाकि हम ऊपर कर चुके हैं, इससे भी बढ़कर गंगा का महत्त्व इस बात में है कि यह हमारी इतिहास धारा का प्रतीक है । सिंहोपम महातेजस्वी, खूँखार आर्यत्व के स्थान पर एक सौम्यकान्त सरस और शुचि आर्यत्व के आहरण-प्रक्रिया की भौगगोलिक साक्षी रही है यह नदी । यह नदी इस बात का हमें स्मरण दिलाती है कि यह नया आर्यत्व वस्तुतः आर्य-आर्येतर यानी समग्र भारतीय समाज के मानसिक एवं सांस्कारिक अन्तर्मिलन का परिणाम है । समन्वय की इस महा प्रक्रिया की बौद्धिक आकृति रचते हैं कृष्ण यजुर्वेद, अथर्ववेद, आगम साहित्य, वैदिकोत्तर साहित्य और दर्शन तथा इसकी साहित्यिक आकृति रचते हैं पुराण और महाकाव्य । पुराण और महाकाव्य एक स्वर से इस भगवती सोमवती पुण्यतोया नदी की महिमा का गान करते हैं । एक उत्तर कालीन वैदिक ऋचा में कहा है—

तदस्य प्रियमपि पाथो अस्यां नेरायत्र देव यवोमदन्ति ।
उरुक्रमस्य सहि वन्धुरित्था विष्णो पदे परमे मध्व उत्सः ।।

"यह उस (विष्णु) की प्रिया का जल फैला हुआ है । देवों द्वारा अभिलषित इस वारि में मनुष्यगण आनन्द लूटते हैं । यह विष्णु के विराट पग से सम्बन्धित है और विष्णु के ही मधुमय परमपद में इसका उत्स है ।"

अतः इस माहेश्वरी नदी को नमस्कार, इसके तीर्थजल को नमस्कार । इस नारायणी नदी को नमस्कार, इसके विमलोदक को नमस्कार, इस दश पांपों को प्रक्षालित करने वाली दशहरा को नमस्कार, इसके निर्मल पानी को नमस्कार । इस भगवती लोक नदी को नमस्कार, इसके अमृतवारि को नमस्कार । हिमालय के किरातों-निषादों की लालिता पालिता वसुओं की माता, महाकाव्य के नायकों की प्रेयसी, रघुओं और भरतगणों की देवता इस भारतीय नदी को वारम्बार नमस्कार और सबसे बढ़कर भारतीय धर्म शील और संस्कार साधना की शाश्वत साक्षिणी और सहज प्रतीक इस जलमयी के साथ-साथ मनोमयी नदीं को भी नमस्कार । सिवायै, नारायण्यै, दशहरायै, गंगायै नमो नमः । ➤

(लेखक की शीघ्र प्रकाश्य रचना *उत्तर कुरु* से)

मित्रता

विद्यार्थी-जीवन के समय से ही श्री निमाई (चैतन्य महाप्रभु) के आचार-व्यवहार एवं विद्या-विद्वत्ता के प्रभाव से समाज अभिभूत होने लगा था । यही प्रभाव उनके सहपाठी मित्र रघुनाथ पर भी पड़ रहा था, जिन्होंने न्याय-शास्त्र पर एक 'दीधिति' नामक ग्रन्थ लिखा । यह जानकारी मिलते ही कि निमाई इभी इस विषय पर लेखन-लीन रहे हैं, उन्होंने वह ग्रन्थ देखने की इच्छा प्रकट की । निर्दिष्ट समय पर दूसरे दिन नौका में गंगा-पार हुए निमाई ने वह ग्रन्थ दिखाया । ग्रन्थ को देख कर रघुनाथ रो दिये । निमाई ने कहा कि उन्होंने तो ऐसी कोई कष्टदायी बात नहीं कही । इस पर रघुनाथ फूट पड़े— 'आपके ग्रन्थ ने मेरा उत्साह फीका कर दिया । इसके आगे मेरा ग्रन्थ विलकुल फीका है और आपके सामने मैं अत्यन्त फीका हूँ ।' और फिर रोने लगे । निमाई ने अपना ग्रन्थ नदी में फेंक कर कहा कि मित्र की प्रसन्नता (मानो प्रसन्नता से चिर मैत्री) के लिए वह आगे से न्याय का पाठ ही छोड़ रहे हैं ।

दान का मर्म

"प्रभु आज इस दीन का गृह श्रीचरणों से पवित्र हो ।" वैशाली के दण्डनायक करबद्ध हो तथागत के सम्मुख उपस्थित थे । उन्होंने अपना रथ-उपवन के बाहर ही छोड़ दिया था । श्रद्धा से प्रातःकालीन प्रवचन समाप्त होने पर वे खड़े हो गये थे और भगवान् बुद्ध ने उनकी ओर दृष्टि उठाई, उनका कण्ठ गद्‌गद् हो उठा । 'भिक्षु संघ का स्वागत करने का सौभाग्य माँगने आया है यह जन आपके समीप ।'

—"भन्ते ! बुद्ध कृपण की भिक्षा स्वीकार नहीं करते । पहले भी किसी बुद्ध ने ऐसा नहीं किया है ।" पता नहीं क्या बात हुई, दण्डनायक के मुख पर दृष्टि पड़ते ही तथागत के नेत्रों में एक अद्‌भुत तेज आ गया । केवल चिरंजीव आनन्द ने लक्षित किया, कि प्रभु आज कुछ असाधारण कह रहे हैं । तथागत का स्वर गम्भीर था । 'दान करना चाहते हो तो दान का मर्म समझो और श्रेष्ठतम दान करो ।'

कृपण की भिक्षा बुद्ध स्वीकार नहीं करते । उपस्थित गणनायकों तथा सामान्य नागरिकों ने एक दूसरे की ओर देखा । भिक्षुवर्ग में भी सब गम्भीर नहीं थे । अनेक दृष्टियाँ उठी दण्डनायक की ओर । उनमें घृणा-तिरस्कार अवहेलना के भाव उठे, यह कृपण है ।

दण्डनायक दो क्षण हतप्रभ रह गए । उनकी मुखकान्ति लुप्त हो गयी । शरीर काँपने लगा । सबको भय लगा वैशाली का परम पराक्रमी उग्रजेता दण्डनायक क्रुद्ध होगा । कुछ बखेड़ा उठेगा ! कुछ भी तो नहीं हुआ इस प्रकार । दो क्षण पश्चात् दण्डनायक का अत्यन्त हताश स्वर सुन पड़ा—जैसी प्रभु की आज्ञा ! उनका मस्तक किंचित झुका वह शीघ्रता से मुड़कर उपवन के बाहर हो गए ।

'प्रभु ! वह रो पड़ा ।' चिरंजीव आनन्द प्रभु के पृष्ठभाग में खड़े थे । उनकी दृष्टि के ठीक सम्मुख थे दण्डनायक । अतः उसके नेत्रों में जो अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक अवरोध करने पर भी बिन्दु झिलमिला उठे थे, आनन्द से वे छिपे नहीं थे । अब उन उदार का हृदय द्रवित हो उठा था और वे प्रभु से प्रार्थना कर रहे थे । आपकी अस्वीकृति ने उसे वेदना से झकझोर दिया है । प्रभु प्रातः उस पर कृपा कर सकते हैं ।

एक दिन से अधिक का निमन्त्रण तथागत स्वीकार नहीं किया करते । भिक्षु कल और परसों का प्रबन्ध करने लगे इसे वे उनके त्यागव्रत से च्युत हो जाना मानते हैं । यह खूब जानते हुए आनन्द ने प्रार्थना की थी'। वे इतना ही चाहते थे कि कोई ऐसा उत्तर मिले, जिससे उस संतप्त हृदय को आश्वासन प्राप्त हो जाय । यह तो निश्चित है कि दण्डनायक दान के मर्म को खोजेगा, कृपणता के कलंक को धोने की चेष्टा करेगा पर कितनी ? प्रश्न अतल में खोने लगा ।

'उसका सौभाग्य उसे यहाँ ले आया ।' भगवान् अभिताभ के नेत्र अर्धोन्मीलित हो चुके थे । वे जैसे कहीं दूर से कुछ कह रहे हों—'उसके आगत को न जानकर तुम दुखी हो रहे हो ।'

कुछ होने वाला है निश्चित ही कुछ अद्‌भुत दान का मर्म अब उद्‌घाटित होगा । आनन्द अब शान्त होगए, क्योंकि वे जानते थे कि भविष्य का स्पष्टीकरण तथागत का स्वभाव नहीं है, वे संकेत भी यदा-कदा ही देते हैं ।

वैशाली का प्रचण्ड दण्डनायक, सम्मानित गणश्रेष्ठ भी उससे भय खाते है । वह नगर में जिस ओर से निकल जाय महान् श्रेष्ठी भी अपने आसनों से उठकर उसका अभिवादन करते हैं । उस उग्रतेजा दण्डनायक का अपमान ! गणनायकों, नागरिकों, श्रेष्ठियों, भिक्षुओं से

भरी सभा में उसे कृपण का सम्बोधन ! गौतम के शत्रु इससे सन्तुष्ट हुए । उन्होंने सैनिकों के प्रधान को भड़काने का अवसर पा लिया था ।

'स्वामी !' साथ के सैनिक स्वतः उत्तेजित थे । दण्डनायक के लौटते ही उनका नायक सम्मुख आया । उसके नेत्र अंगार हो रहे थे, मुख अरुण हो गया 'भिक्षु गौतम अब अत्यधिक धृष्ट हो गया है ।'

'भद्रसेन ! तुम भगवान् को अपशब्द कहने की धृष्टता कर रहे हो ।' दण्डनायक ने दृष्टि कठोर कर ली । 'केवल इस बार तुम्हें क्षमा किया जाता है ।'

'आपका अपमान किया उस........।'

'चुप रहो ! झिड़क दिया दण्डनायक ने । शूर को कुछ समझदार भी होना चाहिए । मैं अपनी बात स्वयं समझ सकता हूँ ।' वह सोचता हुआ रथ पर जा बैठा । सैनिक मुँह बाए खड़े थे । गौतम के शत्रुओं को कोई अवसर नहीं मिला ।

घर पहुँचने पर चिन्तन की गति थमी नहीं अविराम बढ़ती गई । दान सत्कार्य में सत्प्रयोजन के लिए स्वयं की शक्तियों का नियोजन यही न । विचारों का घुमड़न क्रिया में बदले बिना नहीं रहता । चिन्तन की तीव्रता का मतलब है गतिशील कर्म । ऐश्वर्य लुटने लगा पत्नी सहयोगिनी थी । दीन, दरिद्र भिखारी, आर्त सभी कृतार्थ हो रहे थे । साधनों के बदले आशीषें बरस रही थीं । चतुर्दिक ख्याति फैल गयी ।

ख्याति के स्वर आनन्द के कानों तक पहुँचे । उनकी वाणी ने उसे बुद्ध तक पहुँचाया । वह सुनकर मुस्कराए—सम्पदा को लुटा फेंकने का नाम तो दान नहीं है । पात्र-कुपात्र का विचार किए बिना संचित साधनों को भावुकतावश फेंकने लगना, अर्जित पूँजी को अंधेरे कुएँ में डालना है जिसके सत्परिणाम कम दुष्परिणाम अधिक देखने में आते हैं । और समय आने पर सत्पात्रके आहवान को अनसुना कर देना सांप की तरह कुण्डली बनाकर अर्जित साधनों पर बैठे रहना पास आने वाले को काटने दौड़ना उससे कहीं अधिक घातक हैं । आनन्द मौन हो उनकी वाणी सुनते रहे । दान का मर्मोद्घाटन अभी बाकी था ।

अगले दिन प्रातःकालीन प्रवचन की समाप्ति पर सबने देखा कि कल की भाँति दण्डनायक आज भी करबद्ध सम्मुख खड़े है ।

'भन्ते ! बुद्ध कृपण की भिक्षा स्वीकार नहीं करते । पहले भी किसी बुद्ध ने ऐसा नहीं किया है । आज दण्डनायक को प्रार्थना करने का भी अवकाश नही दिया ।' तुम दान करो प्रथम । प्रथम कोटिका दान दे सकने का साहस जुटाओ ।'

जैसी प्रभु की आज्ञा । बुद्ध की वाणी ने उपस्थित जन समुदान को इतना आश्चर्य चकित नहीं किया, जितना चकित किया दण्डनायक की शान्त स्वीकृति ने अपने सर्वस्वदान की चर्चा तक नहीं की । उन्होंने तो कल की भाँति मस्तक झुकाया और शीघ्रतापूर्वक लौट पड़े अपने रथ की ओर ।

चिरंजीव आनन्द आज भी प्रभु के पृष्ठप्रान्त में थे । आज भी उनके सम्मुख ही थे दण्डनायक । आज उनकी दृष्टि बड़ी सावधानी से उनके मुख पर स्थिर थी । आज नेत्रों में आसुओं की जगह अपार गाम्भीर्य था । गणनायक सम्मान्य नागरिक श्रेष्ठिवर्ग, भिक्षुवर्ग—आज कोई उपहास या अवहेलना पूर्वक उनकी और नहीं देख सका । आज सबके नेत्र प्रभु की ओर उठ गये । प्रभु इन्हें कृपण कहते हैं ? क्या रहस्य है तथागत के इस अद्भुत व्यवहार का ? वैशाली के दण्डनायक से और किस दान की उन्हें अपेक्षा है ?

दूसरी ओर दण्डनायक के मन में मन्थन की गति अविराम थी । सत्कार्य में सत्प्रयोजन के लिए स्वयं की शक्तियों का नियोजन दान है । पर सत्कार्य और सत्प्रयोजन क्या है ? इसका निर्धारण कौन करे ? टिक्-टिक् करती चिन्तन की सुई यहाँ आकर अटक गई । यह निर्धारण तो युगावतार ही कर सकते हैं, युगदृष्टा से ही सम्भव है यह महान् निर्णय । उन्हें स्वयं की भूल समझ में आ रही थी । सच अभी तक तो दान के नाम पर तो सिर्फ अहं

का पोषण रहा । नाम को फैलाने यश को बटोरने की ओछी शुरूआत भर हुई । ओह ! मन प्रायश्चित से भर उठा और स्वयं की शक्तियां क्या है ? कहाँ है इनका स्रोत ? अन्तराल में किसी के उभरते इन सवालों के साथ जवाब भी पालें, शक्तियों के मूल हैं श्रम और समय । इनका स्रोत है स्वयं का व्यक्तित्व । तब तो श्रेष्ठतम् दान है......कुछ और सोचते है इतने में सहधर्मिणी भागती हुई आयी । उल्लास और उत्साह के अतिरेक में वह हाँफ रही थी, बड़ी मुश्किल से कह सकी, स्वयं प्रभु द्वार पर पधारे हैं ।

कानों में जैसे संजीवनी का घोल पड़ा । वह धीरे से उठे पत्नी का हाथ पकड़ द्वार पर आए । चरणों में प्रणति निवेदन करते हुए बोले—'प्रभु सम्पत्ति आपकी निवास आपका और हम दोनों आपके ।'

महादान ! का यह स्वरूप देख सभी आश्चर्य चकित थे । किसी को कुछ समझ में नहीं आ रहा था । सभी के आश्चर्य के आवरण को तोड़ते हुए स्वयं युगावतार की वाणी गूँजी। सृष्टि के इतिहास में युगों बाद विरले क्षण आते हैं जब पराचेतना स्वयं मानव से दान की गुहार करती है । ऐसे में रंग-बिरगें पत्थर धातुओं के टुकड़ों की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है स्वयं के श्रम और समय का दान । और इससे भी कहीं श्रेष्ठतम है स्वयं का स्वयं के व्यक्तित्व का दान । दान के ये तीन प्रकार श्रेष्ठ-श्रेष्ठतम् हैं । उस दिन सांयकाल भिक्षु संघ में एक भिक्षु और भिक्षुणी बढ़ गई । जिसे संघ ने महानाम और क्षेमा के नाम से जाना । भगवान् स्वयं उन्हें समझाते हुए कह रहे थे 'धर्मचक्र प्रवर्तन के लिए समर्पित परिव्राजकों लोक जीवन को अपना उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा—हे मानव ! उठो दान के मर्म को समझो ! जो कुछ है उसी से नहीं कुछ है तो स्वयं से ज्योति का सत्कार करो । नवयुग तुम्हारे द्वार तक जयघोष करता आ जाएगा । ➤

एक बार महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए एक सेठ से दान देने को कहा । उनकी बात सुनकर सेठ बोला मन्दिर बनवाना हो, तो हमसे चन्दा ले लीजिए पण्डित जी । चाहे जिस काम के लिए हम दान नहीं देते ।

मालवीय जी ने तुरन्त समझ लिया कि सेठ को विद्या का महत्त्व ज्ञात नहीं है, इसलिए ये ऐसी बातें कर रहा है । उन्होंने धैर्य और नम्रतापूर्वक समझाया कि देश में मन्दिर तो पहले ही इतने हैं कि उनमें पूजा अर्चना नहीं हो पाती । यदि वे अपनी सारी शक्ति लोगों का मनोबल चरित्र और नैतिकता जगाने में लगा दें, तो सारे विश्व की मूर्छा समाप्त हो सकती है । अब मन्दिरों की नहीं, ज्ञान-मन्दिरों की आवश्यकता है, जिससे नर-नारी, बाल, वृद्ध शिक्षित और सुसंस्कृत बन सकें । सेठ मालवीय जी के कथन से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने विद्या विस्तार हेतु यथेष्ट दान देकर ससम्मान पण्डित जी को विदा किया ।

प्राकृतिक चिकित्सा का चमत्कार

‖ श्री लखीराम अग्रवाल ‖

आज से ३० वर्ष पूर्व ४३ की अवस्था में मैं आंत्र यक्ष्मा से घोर रूप से अस्वस्थ हो गया । विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों आयुर्वेद, होमियोपैथी, के प्रमुख चिकित्सकों की चिकित्सा की, किन्तु सुधार होने के वजाय दिन पर दिन गिरावट ही आती रही । दो वर्ष ऐसे ही बीत गये । शरीर अस्थि पंजर मात्र रह गया जैसा कि चिकित्सा के पूर्व के चित्र से ज्ञात होता है । नाड़ी की गति ४८ प्रति मिनट, रक्त चाप ६०-६० और वजन केवल ८१ पौण्ड ।

सभी ओर से निराश महाराष्ट्र में पूना जनपद के उरलीकाँचन के प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्र मे गया । महात्मा
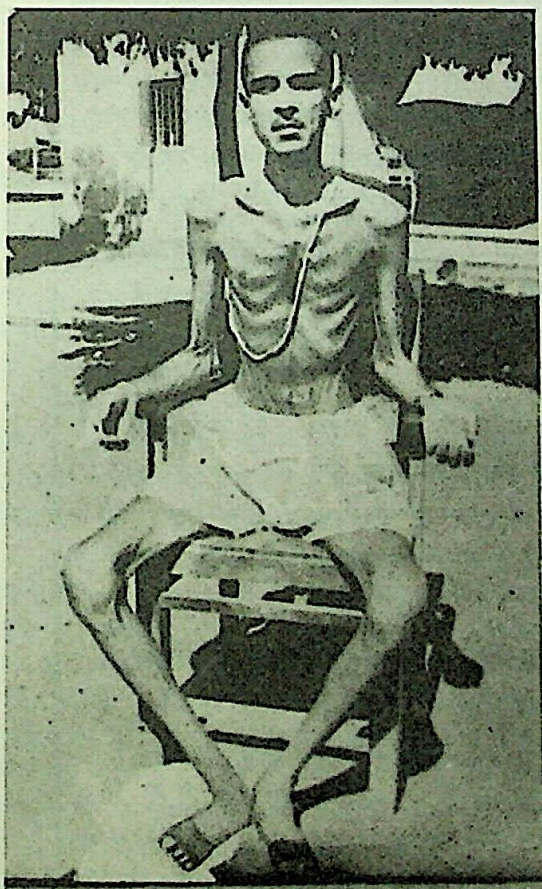
चिकित्सा के पूर्व २२ जून १९६५
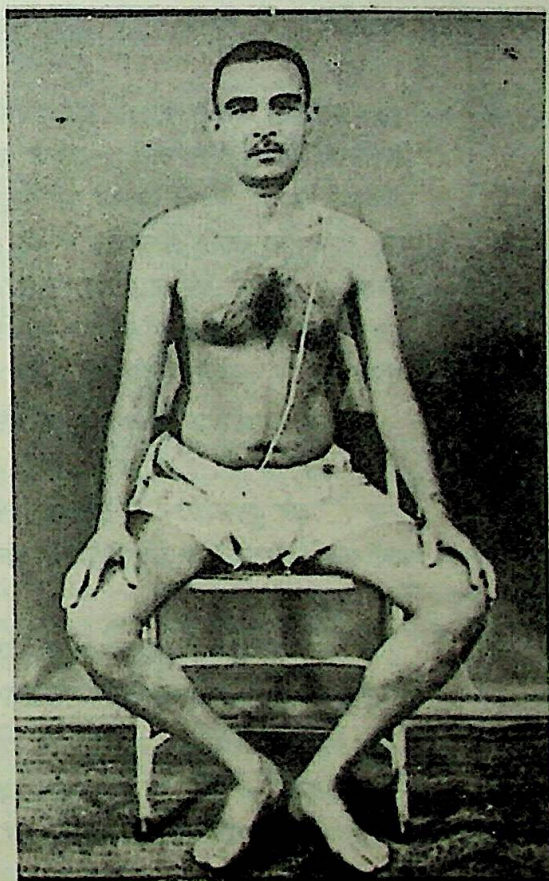
चिकित्सा के पश्चात् २४ अक्तूबर १९६५

गाँधी द्वारा स्थापित यह निसर्गोपचार आश्रम है। चिकित्सा के प्रथम दिन से जल चिकित्सा, जल की पट्टी, एनिमा और आहार के रूप में लाटूस (एक प्रकार की वनस्पति) एवं नट का प्रयोग कराया गया। इसके बाद नियमित रूप से दही कल्प (मट्ठा कल्प) कराया गया। आहार के रूप में दही, फलों का रस एवं मधु दिया जाता था, जिसकी मात्रा निर्धारित सीमा के अन्दर रक्खी जाती थी। इस प्रकार १२० दिनों के दही कल्प द्वारा मेरे स्वास्थ्य में उत्साहजनक परिवर्तन एवं सुधार हुआ। औषधि के रूप में एक पोटिया लहसुन दही के साथ घिस कर प्रथम आहार के रूप में दी जाती थी। प्रत्येक दिन आठ बार दही का सेवन कराया जाता था। इस प्रकार प्राकृतिक चिकित्सा से मुझे पुनर्जीवन मिला। २२ जून १९६५ से २४ अक्तूबर १९६५ यानी चार माह दो दिन के अन्तराल में मेरे स्वास्थ्य में चमत्कारिक परिवर्तन हुआ। २४-१०-६५ को लिए गये चित्र में मेरा वजन ८१ पौण्ड से बढ़कर १२५ पौण्ड हो गया और रक्त चाप भी ११०-७० तथा नाड़ी गति ८० प्रति मिनट हो गयी। उसके बाद आज तक पूर्ण रूप से स्वस्थ हूँ।

जो व्यक्ति प्रकृति माता की उपासना श्रद्धा भक्ति रूपी पुष्प से करता और धैर्य रखता है उसको प्रकृति माता स्वस्थ जीवन प्रदान करती है। ➤

आप ही मेरे मित्र हैं

'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का संदेश देने वाले रामतीर्थ अमेरिका पहुँचे। जहाज सन-फ्रांसिस्को बंदरगाह पर रुका। जहाज खड़े होते ही सभी यात्री जल्दी-जल्दी अपना सामान सँभालने लगे। सब में उतरने की जल्दी और उत्सुकता दिखाई देने लगी। जहाज में एक तरफ एक व्यक्ति शान्तभाव से डेक पर खड़ा था। उसके चेहरे पर न कोई घबराहट दिखाई दे रही थी और न ही उतरने की उतावली। कुछ देर तक एक अमेरिकन व्यक्ति देखता रहा और अन्त में बोला—"क्यों महाशय, आपको यहाँ नहीं उतरना है क्या ? अपना सामान क्यों नहीं सँभालते ?'

व्यक्ति स्वाभाविक मुस्कराहट की मुद्रा में प्रत्युत्तर देते हुए बोला—"मेरे पास कोई सामान नही हैं।' "तो पास में पैसे तो होंगे ही जिससे खाने-पीने का काम चलता होगा ?" यह दूसरा प्रश्न हो उठा। "मैं अपने पास पैसे भी नहीं रखता।" "तब तो यहाँ कोई आपका मित्र होगा, जिसके यहाँ ठहरना होगा ?" युवक का यह तीसरा प्रश्न था।

स्वामी रामतीर्थ में प्रचण्ड आत्म विश्वास था और सब में अपनी आत्मा देखने का आत्म-भाव भी। इसी आधार को लेकर तो वे इतनी लम्बी यात्रा आरम्भ कर रहे थे।

स्वामी जी युवक को प्रत्युत्तर देते हुए बोले—"हाँ, यहाँ हमारा एक मित्र है जिसके यहाँ हमें रुकना है और जो हमारी सब सहायता भी करेगा।' "वह व्यक्ति कौन है ?' सच्चे वेदान्ती रामतीर्थ जी हँसे और उसके कंधे पर हाथ रखते हुए बोले—"आप ही मेरे मित्र हैं।"

वृक्ष : हमारे मित्र

श्री अरविन्दकुमार सिंह

विकास के नाम पर हो रहे तीव्र औद्योगिकरण ने प्रकृति के प्रत्येक अंग को प्रदूषित कर दिया है । औद्योगिकरण के अन्तर्गत मनुष्य प्रकृति का जबरदस्त दोहन तो कर रहा है, किन्तु उसके प्रति स्वयं उसकी क्या जिम्मेदारी है यह उसे तनिक भी याद नहीं रहा । इसी का दुष्परिणाम यह है कि आज पर्यावरण प्रदूषण की भयानक समस्या ही मानव के अस्तित्व के लिए खतरा बन गयी है । किन्तु यदि हम स्वयं अपनी संस्कृति का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि हमारे पूर्वज हमेशा प्रकृति के साथ अत्यधिक सामंजस्य बनाकर रहते थे । उन्होंने प्रकृति की रक्षा के लिए अनेक ऐसे विधान बनाये और उसे अपने दैनिक जीवन के आचार-व्यवहार से जोड़कर प्रकृति के प्रत्येक अवयव की रक्षा करते रहे । हमारे हिन्दू धर्म ग्रन्थ जैसे गीता, रामायण, वेद,, पुराण, उपनिषद, पुराण, स्मृति एवं अन्य ग्रन्थों में विभिन्न जगहों पर ऐसी बातों का उल्लेख मिलता है जो यह सिद्ध करता है कि हमारे पूर्वज प्रकृति के संरक्षण को कितना महत्त्व देते थे ।

हिन्दू धर्म सिद्धान्त का यह मत है कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु का निर्माण किसी एक शक्ति द्वारा किया गया है और मनुष्य इसके द्वारा बनायी गयी किसी भी वस्तु के ऊपर आधिपत्य का कोई अधिकार नहीं है ।

मनुष्य के पैदा होने से लेकर मृत्यु तक अनगिनत संस्कार होते हैं । अपने जीवन में वह न जाने कितने धार्मिक संस्कार एवं पूजा-पाठ करता है । इन सभी अवसरों पर पेड़-पौधों की सहभागिता को काफी महत्त्व दिया गया है ।

कुछ पेड़-पौधे को तो इतना महत्त्व दिया गया है कि यह माना गया है कि उस पर विभिन्न देवी-देवताओं का निवास रहता है. । नरसिंह पुराण में वृक्ष को ईश्वर के तुल्य माना गया है । अथर्ववेद में पीपल को विभिन्न देवताओं का निवास माना गया है । स्कंदपुराण में कहा गया है कि जिस प्रकार सभी देवताओं में विष्णु सर्वश्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार सभी वृक्षों में पीपल का स्थान है । इसमें कहा गया है कि प्रकृति में जितने भी वृक्ष हैं उन सबमें ईश्वर का निवास है । पीपल के बारे में तो कहा जाता है कि जहाँ अन्य वृक्ष रात में अशुद्ध वायु निकालते हैं वहीं यह रात में भी शुद्ध वायु देता है । पीपल को हमारे सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में काफी सम्मान मिला हुआ है । गाँवों एवं शहरों में बहुत से लोग आज भी इस वृक्ष को सुबह जल देते हैं एवं शाम को इसकी जड़ के पास दीप जलाते हैं ।

वृक्षों की आज जिस प्रकार से अंधाधुंध कटाई हो रही है, यह पर्यावरण के लिए बहुत ही घातक साबित हो रहा है, किन्तु हमारे धर्म ग्रन्थों में इस प्रकार के कार्यों पर सख्त पाबन्दी है । याज्ञवल्क्य स्मृति में वृक्षों एवं जंगलों की कटाई को एक आपराधिक कार्य बताते हुए विभिन्न प्रकार के दंड दिये जाने का वर्णन किया गया है । स्कंद पुराण में तो उन वृक्षों की एक लम्बी सूची दी गयी है, जिन्हें काटे जाने पर रोक है ।

वृक्ष	देवता
बरगद	ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, काला कृष्ण, पंचानन, लक्ष्मी, कुबेर, यक्षिणी ।
आम	लक्ष्मी, गोवर्धन, बुद्ध ।
पीपल	विष्णु, लक्ष्मी, वन दुर्गा ।
बेल	महेश्वर, शिव, दुर्गा, लक्ष्मी, सूर्य ।
तुलसी	राम, कृष्ण, लक्ष्मी, विष्णु, जगन्नाथ ।
अशोक	विष्णु, इन्द्र, बुद्ध ।
कदम्ब	कृष्ण ।
कमल	लक्ष्मी

हिन्दू धर्म ग्रन्थों में न केवल वृक्षों के रक्षा की बात कही गयी है, वरन् जानवरों को भी पूर्ण सुरक्षा देने की बात भी शामिल है ।

हिन्दू संस्कृति में प्रकृति के साथ सामंजस्य बैठाकर चलने का विधान है । वह एक संरक्षक के रूप में ही इसका उपयोग कर सकता है । हिन्दू संस्कृति में क्षणिक लाभ के लिए प्रकृति के दोहन को अधार्मिक कार्य कहा गया है । इसमें प्रकृति को सही ढंग से बनाये रखने के लिए अनेक आचार संहिता बनाये गये हैं । इसका पालन न केवल जनसाधारण वरन् राजा भी करता था । ये सभी नियम हिन्दू धर्म के विधान के अनुरूप हैं । इसमें पर्यावरण को हानि पहुँचाने वाली छोटी-छोटी समस्याओं का समुचित निदान भी प्रस्तुत किया गया है । ➤

स्वामी चिन्मयानन्द

श्री ज्योतिर्मय

'संदेह ज्ञान की पहली सीढ़ी है । अगर आप नास्तिक हैं तो मुझे कोई एतराज नहीं । बल्कि प्रसन्नता होती है । मैं खुद भी पहले नास्तिक था । सोचता था कि धर्म रीति रिवाजों और कर्मकाण्डों के सिवा क्या है और सभी साधु महात्मा पाखंडी होते हैं । लोगों को वेवकूफ बनाते हैं । आप लोगों में से भी जब कोई ऐसे आक्षेप करता है तो मुझे प्रसन्नता होती है कि एक और विचारशील चित्त में संदेह का जन्म हुआ । संदेह यदि सच्चा है तो आप धर्म की आत्मा तक पहुँच ही जाएंगे ।' स्वामी चिन्मयानन्द ने यह बात एक जिज्ञासु को प्रोत्साहित करते हुए कही थी । जब वे कह रहे थे कि मैं भी नास्तिक था और धर्म, अध्यात्म, ईश्वर, साधु संन्यासी, मठ मन्दिर आदि को नहीं मानता था तो वे कोई सैद्धान्तिक प्रतिपादन ही नहीं कर रहे थे । उनका वक्तव्य सीधे सपाट अर्थों में सही था । स्वामी जी की धर्म यात्रा संदेह से ही शुरू हुई थी । सन् १९४१-४२ में वे 'नेशनल हेरल्ड' के अंशकालिक संवाददाता थे । बाकायदा अखबार के स्टाफ में नहीं थे । तब उनका नाम बालकृष्ण मेनन था और साधु संन्यासियों की पोल खोलने के लिए ऋषिकेश गये थे । ऋषिकेश हमेशा ही साधु संन्यासियों का गढ़ रहा है । बालकृष्ण मेमन वहाँ इसी उम्मीद में गए कि लिखने के लिए पर्याप्त मसाला मिलेगा और लेखनी से वे जम कर वहाँ के ढकोसलों पर हमला करेंगे ।

ऋषिकेश पहुँचते ही बालकृष्ण मेनन की भेंट स्वामी शिवानन्द सरस्वती से हुई । कुछ समय पहले ही वे मलाया छोड़कर आए थे और भारत में अपनी धार्मिक आध्यात्मिक गतिविधियां शुरू कर चुके थे । दक्षिण के इस योगी की कीर्ति तेजी से फैलने लगी । बालकृष्ण मेनन उनके करीब आए तो इतने प्रभावित हुए कि छह महीने तक आश्रम में रहे । शुरू में उनका ख्याल था कि थोड़े बहुत समय में वे आश्रम के धार्मिक रैकेट की तह तक पहुँच जाएंगे । लेकिन वहाँ के आध्यात्मिक माहौल ने इतना प्रभावित किया कि जब वे लौटे तो बालकृष्ण मेनन से स्वामी चिन्मयानन्द हो चुके थे ।

स्वामी शिवानन्द से संन्यास दीक्षा पहला रूपांतरण था । इसके साथ ही उनका अतीत से नाता टूट गया । आमतौर पर संन्यासी के पूर्व आश्रम का उल्लेख नहीं किया जाता, उसके माता-पिता और कुल परिवार का ही नहीं जन्म और प्रारम्भिक जीवन की चर्चा भी वर्जित है । लेकिन अब इन वर्जनाओं पर ध्यान नहीं दिया जाता । आध्यात्मिक विभूतियों के कृतित्व की चर्चा उनके काम और संदेश को आगे बढ़ाने में सहायक होती है । इसलिए स्वामी चिन्मयानन्द जैसे संतों के प्रारम्भिक उल्लेख अवर्जित ही नहीं आवश्यक भी हो जाता है ।

संन्यास लेते वक्त स्वामी चिन्मयानन्द की आयु पचीस वर्ष रही । परंपरागत आश्रम व्यवस्था के संदर्भ में देखें तो यह उनके ब्रह्मचर्याश्रम से निकल कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश की आयु थी । लेकिन युवा बालकृष्ण मेनन ने बीच के दो आश्रमों का अतिक्रमण किया । संन्यास से पहले वे स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग ले चुके थे । इस सिलसिले में वे छः महीने की जेल भी काट आए थे । लेकिन यह उल्लेख स्वामी चिन्मयानन्द की महानता के खाते में नहीं किया जा रहा । स्वतंत्रता आन्दोलन में भागीदारी के सिवा उनके तब तक के जीवन में कोई भी उल्लेखनीय विशेषता नहीं थी । आठ मई १९१६ को मलावार तट पर कोचि के एक मध्यवर्गीय परिवार में जन्मे स्वामी चिन्मयानन्द ने वचपन में या वचपन के बाद भी संन्यासी होने तक किसी विलक्षण प्रतिभा का परिचय नहीं दिया । बाद के जीवन में भी उन्होंने किसी विलक्षणता या अलौकिक सिद्धि सामर्थ्य का दावा नहीं किया । धर्मक्षेत्र की यह विडंबना है कि मामूली साधु वावा से

लेकर हजारों लाखों शिष्यों के गुरु भगवान् तक अपने पास अलौकिक सिद्धि होने का दावा करते हैं । अपने आपको किसी दूसरे ग्रह नक्षत्र से आया सिद्ध पुरुष बताने में ही अपना अस्तित्व सुरक्षित मानते हैं । लेकिन स्वामी चिन्मयानन्द ऐसी किसी अलौकिक विलक्षणता में नहीं आदर्श की महानता में विश्वास करते थे । अक्सर वे कहते थे कि जब आप अपने लिए एक आदर्श का चुनाव कर लेते हैं तो आप में प्रतिभा, शक्ति और सामर्थ्य का स्रोत फूट पड़ता है ।

स्वामी चिन्मयानन्द ने स्वामी शिवानन्द से संन्यास दीक्षा भर ली थी । साधना और स्वाध्याय विस्तृत पथ तो अभी शेष था । उन्हें लगा कि शिवानन्द आश्रम उनके मार्ग का एक पड़ाव भर है । आगे की यात्रा के लिए गुरु की खोज में वे हिमालय के गहन क्षेत्रों में निकल गए । उनकी यह खोज उत्तरकाशी में पूरी हुई । वहाँ तब स्वामी तपोवन महाराज थे । आयु यही कोई पचास साल के आस-पास । तप तितिक्षा से दीप्त मुखमण्डल । उनके चरणों में बैठ कर कई साधु सन्तों और गृहस्थों ने आत्म कल्याण का मार्ग पाया था और उस मार्ग पर आरूढ़ हुए थे । साधु संन्यासियों और सामान्य गृहस्थों ने ही नहीं राजा महाराजाओं और प्रकाण्ड पण्डितों ने भी उनसे प्रकाश प्राप्त किया था । स्वामी चिन्मयानन्द उनके पास गए और उनका अपने गुरु के रूप में वरण किया । शिष्य ने गुरु के चरणों में श्रद्धा निवेदित की, गुरु ने शिष्य को आश्वस्त किया । कालान्तर में इन्हीं तपोवन महाराज ने स्वामी चिन्मयानन्द को प्रेरित किया कि वे संसार को वेदांत का उपदेश दें । उन्होंने कहा चिन्मय वेदान्त सीखना आसान है । उसकी शिक्षा देना और भी आसान है लेकिन उस सीखे हुए को आत्मसात करना बहुत दुष्कर है । यह दुष्कर कार्य ही साधना है ।

यह प्रेरणा देने के कुछ ही दिन बाद तपोवन जी महाराज ने महासमाधि ले ली । तब ब्राह्म मुहूर्त का समय था । आकाश में पूरा चांद खिला हुआ था और कुटिया के बाहर चांदनी छिटकी हुई थी । स्वामी चिन्मयानन्द इससे पहले ही गीता की शिक्षाओं का प्रचार करने लगे थे । सन् १९५१ में पुणे में उन्होंने पहला गीता ज्ञान यज्ञ आयोजित किया । तब न शामियाने की व्यवस्था थी, न मंच और न ही माइक । एक पेड़ के नीचे बैठकर उन्होंने गीता पर व्याख्यान दिया । ज्ञान यज्ञ में भाग लेने के लिए गिने चुने लोग आए थे । श्रोताओं की संख्या धीरे-धीरे बढ़ने लगी और पिछले कुछ वर्षों में तो उन्हें सुनने के लिए एक ही समय में पन्द्रह बीस हजार लोग इकट्ठे होने लगे थे ।

सन् १९५१ से अब तक स्वामी चिन्मयानन्द पांच सौ से ज्यादा गीता ज्ञान-यज्ञ कर चुके हैं । गीता में ज्ञान यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कहा है । अपने प्रवचनों में स्वामी जी कहा करते थे—कर्मकाण्ड में जिन यज्ञों का उपदेश दिया गया वे द्रव्य पदार्थों से संपन्न होते हैं । उनसे लौकिक परिणाम ही उत्पन्न होते हैं । ऐसे परिणाम अन्ततः अहंकार को बढ़ाने में ही सहायक होते हैं । लेकिन ज्ञानयज्ञ की प्रेरणा अहंकार को नष्ट करती है । अहंकार कुछ नहीं अपने अज्ञान की ही छाया है ।

स्वामीजी गीता के अलावा उपनिषद्, विवेक चूड़ामणि और वेदान्त के अन्य ग्रन्थों पर भी प्रवचन करते थे । लेकिन उनका जोर गीता पर ही ज्यादा रहता था । वे कहते थे गीता सभी धर्मों के लिए, सभी समाजों के लिए और सभी कालों के लिए उपयुक्त शास्त्र है । इसे आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर भी उन्होंने गीता की उपादेयता सिद्ध की और कहा—हमारे जीवन में ऐसे अनेक क्षण आते हैं जब हम जानते हुए भी अपने मनोवेगों का दमन करते रहते हैं । यह गलती हम अनजाने ही करते हैं । इस प्रकार दमन किए गए विस्फोटक मनोवेग व्यक्त होने के लिए अवसर खोजते रहते हैं । जब वे जमा हो जाते हैं तो प्रवुद्ध होकर ऐसा विस्फोट करते हैं कि व्यक्ति ही नष्ट हो जाता है । मनोवेग की इस शक्ति का सदुपयोग करना चाहिए । युद्ध भूमि में वीर योद्धा अर्जुन अपनी दमित भावनाओं के चपेट में इस तरह आ जाता है कि लगता है वह भय जनित उन्माद के मानसिक रोग का शिकार हो गया है ।

लेकिन गीता उनके मानसोपचार सुझाने वाला ग्रन्थ ही नहीं है । वे कहते थे सत्य को आप किसी भी दिशा से चखें उसका स्वाद एक ही रहेगा । सागर को कहीं से चखें उसका स्वाद खारा ही रहेगा । गीताशास्त्र को मनोविज्ञान की दृष्टि से पढ़े या सामाजिक विज्ञान की दृष्टि से, वह जीवन के लिए समान रूप से उपादेय है । किसी ने उनसे पूछा था कि आप गीता पर इतना जोर क्यों देते

हैं । अन्य धर्मशास्त्र क्या कम महत्त्वपूर्ण है या बाइबल और कुरान उतने महत्त्वपूर्ण नहीं । उन्होंने कहा था कि सभी धर्मशास्त्र महत्त्वपूर्ण हैं । कोई कम या ज्यादा नहीं है । लेकिन जिस शास्त्र का मैंने प्रयोग और अनुभव किया है, मैं उसी की तो बात करूँगा । मेरा मानना है गीता प्रचलित अर्थों में शास्त्र नहीं है । शास्त्र का मतलब है कोई विशेष विधि व्यवस्था । लेकिन गीता कोई व्यवस्थता नहीं देती। वह आत्मिक विकास की सभी सम्भावनाओं और मार्गों को प्रकाशित करती है । फिर व्यक्ति पर ही छोड़ देती है कि अपने लिए उपयुक्त मार्ग का खुद चुनाव कर ले ।

चिन्मय मिशन की स्थापना कर उन्होंने ज्ञान यज्ञ को समाज सेवा की सक्रिय साधना में भी परिणत किया । मिशन खास तौर पर शिक्षण संस्थाएं चलाता है । देश विदेश के कई स्कूल कालेज मिशन से संरक्षण और मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं । इनके अलावा मिशन अस्पताल, वृद्धजनों के लिए आश्रय गृह भी चला रहा है । समाज सेवा का यह क्षेत्र स्वामीजी के जीवन और कर्म का दूसरा चरण है । इसका उल्लेख पहले चरण के पूरक रूप में ही किया जा सकता है । उनका पहला और प्रमुख चरण दुनिया को वेदान्त का संदेश देना था । स्वामी विवेकानन्द ने सौ साल पहले वेदान्त के रूप में जिस भारतीय धर्म और संस्कृति का विजय घोष किया, उसकी धीमी पड़ती गूंज को स्वामी जी ने फिर से प्रखर किया । उनके इसी कर्म को मान्यता देते हुए २८ अगस्त से शिकागो में हो रहे विश्वधर्म शताब्दी समारोह में उन्हें सम्मानित किया जाने वाला था । याद रहे सौ साल पहले इसी तरह की विश्व धर्म संसद हुई थी । स्वामी विवेकानन्द ने इसमें हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया था और अपने संदेश से वहाँ उपस्थित प्रतिनिधियों को चमत्कृत किया था । उसी विश्वधर्म संसद के शताब्दी समारोह में स्वामी चिन्मयानन्द को हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि की हैसियत से बुलाया गया था । यही नहीं उन्हें विभिन्न धर्मों के चौदह आचार्यों या धार्मिक नेताओं की परिषद् में भी मनोनीत किया गया था जिन्हें दुनिया के सभी धर्मों की एकता के लिए काम करना और समाज को मार्गदर्शन देना था ।

भारतीय धर्मों में विविधता और विभिन्न सम्प्रदायों की स्वतंत्रता के प्रबल पक्षधर होते हुए भी स्वामी जी को लगता था कि यदि इस स्वतंत्रता का सदुपयोग नहीं किया गया तो बिखराव और टकराव ही पैदा होगा भारत में यद्यपि कोई धार्मिक संघर्ष नहीं हुए लेकिन यहाँ विभिन्न सम्प्रदायों में संवाद की भी कमी रही । स्वामी चिन्मयानन्द ने सभी भारतीय सम्प्रदायों के लिए एक मंच बनाने के विचार को आगे बढ़ाया । परिणाम स्वरूप सन् १९६४ की विजयदशमी को विश्वहिन्दू परिषद का गठन हुआ । परिषद का आज जो स्वरूप है उससे वह सर्वथा भिन्न थी । तब इसमें चारों शंकराचार्य थे । दलाई लामा थे, जैन मुनि सुशील कुमार थे, आचार्य तुलसी थे । आज इनमें से कोई भी परिषद् के साथ नहीं है, इस परिणति के कारणों में जाना जरूरी नहीं है । स्वामी चिन्मयानन्द क्योंकि परिषद के संस्थापकों में अग्रणी थे इसलिए उनका लगाव हाल तक जुड़ा रहा । लेकिन परिषद के उग्र स्वरूप ग्रहण करने के बाद उन्होंने अपने आपको धीरे-धीरे अलग कर लिया था । कम से कम इन कार्यक्रमों में उनकी सक्रिय भागीदारी नहीं रह गयी थी । परिषद के क्रियाकलापों को वे चुपचाप देखते रहे थे और शायद आशीर्वाद भी देते थे कि जिस उद्देश्य से इसकी स्थापना हुई थी वह पूरी हो सके ।

बयालीस वर्ष तक देश विदेश में भारतीय धर्म संस्कृति का संदेश पहुँचाते रहने और साधकों कार्यकर्ताओं का एक बड़ा वर्ग तैयार कर चुकने के बाद ४ अगस्त, १९९३ को अपनी इहलीला का संवरण कर लिया । भारतीय समय के अनुसार सुबह सवा छह बजे सैन डियोगो कैलिफोर्निया (अमेरिका) में वे महासमाधि में लीन हो गए । उनके पार्थिव शरीर को उनके आश्रम में भू समाधि दी गयी । उनके प्रवचनों के सैकड़ों संकलित ग्रन्थ, आडियो वीडियो कैसेट, शिष्यों और साधकों की स्मृतियां और उससे भी ज्यादा उनके संस्कारों में स्वामीजी का वास रहेगा । एक अवसर पर उन्होंने कहा था कि सन्त का कोई अतीत नहीं होता । उसका केवल भविष्य होता है । और सचमुच भविष्य स्वामी चिन्मयानन्द का ही है । स्वामी चिन्मयानन्द यानी काय कलेवर में सिमटी व्यक्ति चेतना नहीं बल्कि उस रूप में व्यक्त विचार संदेश और धर्म अध्यात्म का उन्मेष । ➤

शिव का त्रिशूल

श्री प्रमोदकुमार दुबे

कहते हैं, काशी भगवान् शंकर के त्रिशूल पर बसी हुई है, यह तीनों लोक से न्यारी है । राजा हरिश्चन्द्र अपना राज्य दान दे देने के बाद रहते कहाँ ? वह काशी आए, क्योंकि वह भूमि संसार से अलग मानी गयी है । ऊपर से यह बात कोरा झूठ लग रही है, कहीं त्रिशूल के ऊपर नगर बसाया जा सकता है ? लेकिन शिव और उनके त्रिशूल को वैचारिक पृष्ठभूमि देखी जाए तो इस लोकश्रुति की सच्चाई स्पष्ट हो जाएगी ।

त्रिशूल के विषय में यह कहना गलत है कि यह त्रिगुण (सत रज तम) का प्रतीक है । यदि इन्हीं गुणों में काशी को भी सीमित मान लिया जाए तो फिर उसकी विशिष्टता क्या होगी ? सारा संसार प्रत्याशा प्रयास और प्राप्ति की अलग-अलग दौड़ों में शामिल है । लेकिन मोक्षदायिनी काशी इससे बाहर त्रिशूल का आधार लेकर टिकी हुई है । यह त्रिशूल है क्या ?

महाकवि कालिदास ने 'कुमार संभव' के एक प्रसंग में जहाँ काम देव भस्म कर दिया जाता है, अनिंद्य रूपसी पार्वती का मनोरथ भग्न हो जाता है—शिव को पिनाकधारी कहा है । कालिदास मामूली कवि नहीं हैं, उनकी उक्तियाँ बिल्कुल उपयुक्त होती हैं । पिनाक अर्थात् त्रिशूल भंजक है । यह शिव-शस्त्र उन साधनों का द्योतक है जिनसे ऐन्द्रिक तृष्णाएँ दग्ध हो जाती हैं, सारा खंड-बोध ध्वस्त हो जाता है और एक अखंडता जाग उठती है । फिर कैसी परवशता ? कैसा प्रभाव ? जब अपना ही आत्मरूप समस्त सृष्टि में दिखने लगे ।
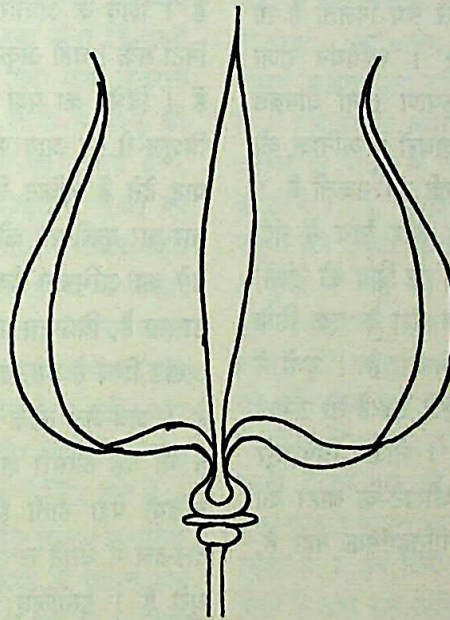
महावाराह का अवतार लेकर विष्णु ने जल में डूबी पड़ी पृथ्वी का उद्धार तो कर दिया, लेकिन स्वयं सांसारिकता में डूब गये थे । वाराह के रूप में रहते हुए उन्होंने घर-गृहस्थी बसा ली, बाल-बच्चेदार हो गये, उन्हें वैकुण्ठ भूल गया, शेषशैया विस्मृत हो गयी । देवताओं ने शिव से प्रार्थना की, 'चक्रपाणि विष्णु का कार्य पूरा हो गया महादेव ! पर वे भव-जाल में मस्त पड़े हुए हैं, आने का नाम नहीं ले रहे हैं।' देवाधिदेव शंकर विष्णु को बुलाने गये, देखते हैं, वह पूरे वाराह बन गये हैं । संसार में इतने रम गये हैं कि महादेव को पहचानना तो दूर, उन्हें स्वयं के विष्णु होने का भी बोध नहीं है । शिव ने उन्हें त्रिशूल से मारा । विष्णु वाराह-देह से मुक्त हुए । इस पौराणिक आख्यान में त्रिशूल उन्हीं साधनों का द्योतक है, जिससे जीव के बन्धन खुलते हैं, जिससे उसकी बोध सीमा व्यापक होती है । स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने काशी में हुए अपने दर्शन के विषय में बताया । उन्होंने देखा कि पिंगल जटाधारी भूत भावन शंकर

मणिकर्णिका के महाश्मशान में अपने त्रिशूल से जीवों का कर्म बन्धन खोल रहे हैं । १८६८ ई० में उनके द्वारा किये गये इस दर्शन से पौराणिक आख्यानों की सच्चाई सिद्ध होती है ।

शिव त्रिपुरारी हैं—त्रिपुरासुर का वध करने वाले । त्रिपुरासुर कोई इतिहास पुरुष नहीं है, जिसके विरुद्ध शिव नामक किसी कबीले के त्रिशूलधारी सरदार की अगुआई में लड़ाकुओं की टुकड़ी ने लड़ाई लड़ी हो । सिंधु घाटी की खुदाई से त्रिशूल का ऐतिहासिक साक्ष्य प्राप्त होता है । इन पुरामुद्राओं में बाघ, हाथी, भैंसा, गेंडा आदि पशुओं से घिरे हुए शिव का पशुपति रूप मिलता है तो उनका त्रिशूल भी होना ही चाहिए । पार्थियन राजा गोण्डाफरनिस की मुद्राएँ हों या कुषाण राजा वीमब्रड फाइसीस की मुद्राएँ अथवा उसके वंशधरों में कनिष्क की मुद्राएँ; इन पर शिव की आकृति देखी जा सकती है । जिनके हाथ में त्रिशूल है, डमरू है और साथ में नंदी भी । ये शिवभक्त प्राचीन राजा अपने इष्ट शिव को 'ईशो' (ईश या ईशान) कहते थे । कुषाण वंश के एक सिक्के पर शिव का मयेसेनो (महेश) नाम मिलता है । हूणों ने भी महादेव को खूब पूजा । शिव आदि देव हैं तो उनका इतिहास भी आदिम होना ही चाहिए । लेकिन त्रिपुरासुर से उनका युद्ध नये इतिहासबोध के चौखटे के बाहर की चीज हो जाता है, जिसका प्रमाण ऐतिहासिक नहीं है, बल्कि ज्ञानात्मक है ।

महाभारत के सुप्रसिद्ध टीकाकार नीलकंठ चतुर्धर द्वारा त्रिपुरासुर-वध के रहस्य की, की गयी व्याख्या का सार संक्षेप इस प्रकार है—त्रिपुरासुर के तीन पुर हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर । ये मनुष्य के अस्तित्व का ही विवेचन है जब मनुष्य देह के स्थूल अस्तित्व में होता है उसे जाग्रत अवस्था कहते हैं, जब सूक्ष्म अस्तित्व में होता है उसे स्वप्न, और जब कारण अस्तित्व में सक्रिय होता है, उसे सुषुप्ति अवस्था कहते हैं । जीव इन्हीं आवरणों में आबद्ध होकर अपने परमात्म स्वरूप से हाथ धो बैठता है । इस प्रकार मुक्त ब्रह्म को माया के गाँठों में बाँधकर त्रिपुरासुर शासन करता रहता है । इसी के प्रभाव से हर प्राणी को छोटा-बड़ा बुरा-भला बन नाम-रूप में बँधकर घसीटना पड़ता है । दुनिया इसी विषमता के कारण बेचैन है । शिव के अतिरिक्त और कौन है जो सारे भेदों को मिटा सके ! वही अकुल हैं अवर्ण हैं निष्कल और दिगम्बर हैं । विभेद का पर्दा उन्हें सहन नहीं होता । वह अपने त्रिशूल से इन आवरणों को फाड़ देते हैं, सारी विषमताएँ पाट देते हैं लेकिन त्रिपुरासुर भी कम जबर्दस्त नहीं है, बार-बार कुलीनता की दीवारें खड़ी कर देता है, पद और पैसे का अभिमान पैदा कर देता है, वर्णों का भेद बना डालता है, विषमता का द्वन्द्व रच देता है । अकुल-अचर्ण अखंड शिव से इस खण्डकर्मा असुर का युद्ध चलता रहता है । जब-जब लोक में शिवत्व घटता है धर्म की आड़ में भी यह आसुरी शक्ति सक्रिय हो जाती है, सामाजिक रूढ़ियाँ पैदा होती हैं, समाज का पाँव असमानता के दल-दल में धँसने लगता है । शिव ही परिवर्तन चक्र की धुरी हैं । इसीलिए शंकराचार्य ने किसी व्यक्ति, ग्रन्थ, पंथ के बदले इस प्रश्न के उत्तर में कि कौन पूज्य है ? कहा, 'शिवतत्व निष्ठः' जो शिवत्व में निष्ठ हो चाहे वह कोई हो, वही पूज्य है । ➤
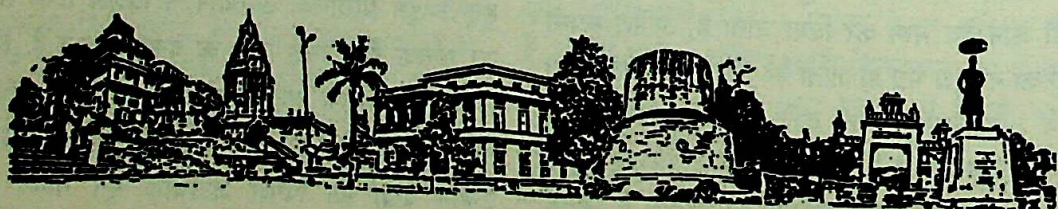
मेदो रोग (मोटापा) एवं चिकित्सा

डॉ० वी० एन० उपाध्याय

रीडर, काय चिकित्सा विभाग, आयुर्वेद संकाय,
चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

महर्षि चरक ने आठ प्रकार के निन्दित पुरुष बताएँ है जिनमें अतिदीर्घ (लम्बा), अति ह्रस्व (छोटा) अति लोमा (अत्यन्त काला), अतिगौर (अधिक गोरा), अतिस्थूल (अधिक मोटा होना) और अतिकृश (अत्यधिक पतला होना) बताया है । अधिक लम्बा होना चिकित्सा की दृष्टि से बहुत निन्दित नहीं है । यह पुरुष सुन्दरता की दृष्टि से खराब है । वैसे ऐसे लोगों में वायु की प्रधानता होती है जिससे निन्दित कहा जा सकता है । अधिक लम्बा होना पीयूष ग्रन्थि (पिट्यूटरी ग्लैन्ड) की विकृति से होता है । जिसे (Gaintism) जैन्टीज्म कहते हैं । अति ह्रस्व (छोटा) होना भी इसी ग्रन्थि के विकार से होता है जिसे डवारफीज्म (Dwarfism) बौनापन कहते हैं । अतिलोमा (अधिक बाल होना) एवं अलोमा (बाल रहित) होना सुन्दरता की दृष्टि से निन्दित है । इसी प्रकार अतिकृष्ण (अधिक काला) एवं अति गौर (अत्यधिक गोरा या श्वेत होना) भी सुन्दरता की दृष्टि से निन्दित होते हैं । परन्तु अति कृश (अति दुर्बल) एवं अति स्थूल (अत्यधिक मोटा) होना विभिन्न प्रकार की व्याधियों से ग्रसित होने की सम्भावना के कारण नन्दित बताए गये है । महर्षि चरक ने इन दोनों में भी अति स्थूल को अत्यन्त ही निन्दित कहा है । इसलिए प्रस्तुत लेख में अतिस्थूल जिसे मेदो रोग (Obesity) कहा जाता है । उसके होने के कारण एवं कम करने के उपचार का वर्णन करेंगे ।

मेदो रोग के कारण

मेदो रोग होने के सामान्य कारण निम्न होते है । (१)अधिक मात्रा में आहार करना । प्रत्येक व्यक्ति को अपनी कार्य क्षमता के अनुसार मात्रावत भोजन करना चाहिए । जो मनुष्य अधिक मात्रा में भोजन करते हैं उनमें यह रोग होने की सम्भावना अधिक होती है । (२) विशेष आहार जैसे अधिक मीठा, तेल एवं घृत (स्नेह) से परिपूर्ण आहार एवं स्वभाव में गुरु (भारी) आहार के सेवन से मेदो रोग होता है । (३) अव्यायाम अथवा श्रम न करना । जो व्यक्ति व्यायाम या श्रम नहीं करता उसका सम्पूर्ण आहार वसा या चर्बी में बदल कर जमा हो जाता है । यदि व्यक्ति व्यायाम करता है या श्रम करता है तो आहार के पाचन के बाद ऊर्जा में बदल कर शक्ति पैदा करता है । (४) दिवाशयन अर्थात् दिन में अधिक सोना । मनुष्य को आवश्यकता से अधिक नहीं सोना चाहिए । आयुर्वेद में सोने का भी नियम बताया गया है । जब सूर्य उत्तरायण रहता है तो उन दिनों में सूर्य अधिक शक्तिशाली रहता है और समस्त वानस्पत्य एवं जन्तुओं की शक्ति का अवशोषण करता है । इन दिनों मध्यकाल में सोना हितकर होता है । और जब सूर्य दक्षिणायन रहता है तो सूर्य की शक्ति कम रहती है तथा सोमरस युक्त चन्द्रमा समस्त चराचर को सोम से शक्ति प्रदान करता रहता है । इन दिनों में दिन में सोने से कफ की वृद्धि होती है और यह अहितकर होता है । (५) सर्वदा प्रसन्न चित्त रहना । यह अति सम्पन्नता का लक्षण है । (६) कभी चिन्ता शोकादि मानसिक विषयों से ग्रस्त न रहना । (७) अव्यवायता (मैथुन न करना) तथा (८) बीज दोष अर्थात् वंशानुगत । यदि माता पिता अधिक स्थूल (मोटे) होते हैं संतान भी स्थूल हो सकती है ।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में मेदो रोग का प्रधान कारण थायरायड ग्रन्थि की निष्क्रियता के कारण होता । इसके अलावा स्त्रियों में जब मासिक धर्म समाप्त होने की अवस्था आती है तब भी ओवरी ग्रन्थि से निकलने वाले

स्राव विशेष कर आष्ट्रोजन की अधिकता से भी स्थूल रोग होने लगता है । मेदो रोग होने से निम्न समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है ।

१. अति स्थूल पुरुष की आयु का क्षय शीघ्र ही होने लगता है । इसका कारण है कि मनुष्य द्वारा किया गया भोजन पाचन के पश्चात् मेद चर्बी में बदल जाता है जिससे अन्य धातुओं जैसे रक्त, मांस, अस्थि एवं मज्जा का पूर्णतया पोषण नहीं हो पाता जिसके कारण जीवनी शक्ति कम हो जाती है । इसके अलावा यह मेद रक्त की संवहन करने वाली धमनियों में भी जमा हो जाता है तथा यह मोटी हो जाती है जिससे हृदय आदि को पूरा रक्त नहीं मिल पाता तथा करोनरी हृदय रोग या दिल का दौरा पड़ने की आशंका बढ़ जाती है । अति स्थूलता के कारण प्रमेह (डायबिटीज) आदि रोग भी हो जाते ।

२. मेद स्त्री पुरुष किसी भी कार्य करने का उत्साह नहीं कर पाता । चलने फिरने में श्वास कष्ट धड़कन आदि होने लगता है । सन्धियों में दर्द होने लगता है ।

३. अति स्थूल होने के कारण वह मनुष्य मैथुन करने में असमर्थ हो जाता है तथा धातुओं की पुष्टि न होने से शुक्र का निर्माण नहीं हो पाता । स्त्रियों में बन्धता (संतानोपत्पत्ति) का स्थूल रोग एक प्रमुख कारण भी होता है ।

४. दुर्बलता का अनुभव होना । सामान्यता देखने में मनुष्य बहुत स्वस्थ लगता है परन्तु वह अत्यन्त कमजोरी का अनुभव करता है । इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण आहार रस मेद में बदल जाता है, मांस आदि का उचित निर्माण नहीं होता ।

५. शरीर में दुर्गन्ध का होना । प्रायः मेदस्वी लोगों के शरीर से स्वेद (पसीना) अधिक होता है, तथा उसमें दुर्गन्ध भी होती है ।

६. भूख एवं प्यास का अधिक लगना । इनकी (मेदस्वी) आनिया अधिक प्रबल होती हैं जिसके कारण आहार का पाचन जल्दी हो जाता है तथा वह भूख का एवं प्यास का अधिक अनुभव करता है ।

मेदो रोग के लक्षण

मेद धातु (चर्बी) के अधिक बढ़ जाने से नितम्ब (कमर का हिस्सा) उदर (पेट) एवं स्तन प्रदेश इतना मोटा हो जाता है और लटक जाता है कि चलते समय हिलते रहते है । अंग प्रत्यंगों की वृद्धि उचित रूप से नहीं होता है तथा कार्य करने में उत्साह भी उचित रूप से नहीं होती । ऐसे मनुष्यों को अतिस्थूल (ओवीज) कहा जाता है । इससे शरीर में चर्बी बढ़ने के अलावा रक्त धमनियों में भी चर्बी बढ़ जाती है । जिसे अथरोस्केरोसिस कहते है । तथा रक्त के परीक्षण करने पर रक्त गत चर्बी जैसे सीरम कोलेस्ट्रान्ल, ट्राईग्लिसराइड फास्फोलिपीड, फैटी एसिड इत्यादि बढ़ा रहता है । इसके कारण हृदय रोग, मधुमेह आदि रोगों की सम्भावना भी अधिक होती है ।

सामान्य चिकित्सा

मेदो रोग के २०० रोगियों का अध्ययन किया गया । जिनके वजन, एवं रक्तगत स्नेहों (सीरम कोलेस्ट्राल, ट्राइग्लिराइड, फास्फोलिपिड, फैटी एसिड) इत्यादि का परीक्षण चिकित्सा के पूर्व एवं पश्चात् प्रतिमास किया गया । औषधि में शुद्ध गुग्गलु का चूर्ण ४ से ६ ग्रा० प्रतिदिन दिया गया । इसके प्रयोग से औसत १ किलो वजन प्रतिमाह की कमी तथा सभी रक्तिगत स्नेहो में ह्रास अंकित किया गया । आहार में अति स्नेह द्रव्यों को उपयोग करने से रोका गया था । शु-गुग्गुल के प्रयोग करने से हृदय रोग एवं मधुमेय भी नहीं होता । रोगी को चलने में श्वास फूलने में भी लाभ मिला ।

मेदो रोग के रोगियों को प्रातःकाल यथाशक्ति टहलना लाभप्रद होता है । आहार में विशेष कर घी अथवा वनस्पति घी का प्रयोग नहीं करना चाहिए । सूरजमुखी का तेल या बादाम का तेल थोड़ी मात्रा मैं प्रयोग कर सकते हैं । इसके अलावा हरी सब्जियों एवं सलाद तथा फलों में हर ऋतु में पाये जाने वाले फलों का सेवन कर सकते हैं । चावल, आलू, घी, केला, सेव, आदि फल का प्रयोग हानिकारक होता है । अंकुरित चना का प्रयोग विशेष लाभप्रद होता है । जौ एवं चने के सत्तू का नास्ते में उपयोग करना चाहिए । ➤

काशी मुमुक्षु भवन सभा समाचार

जुलाई, अगस्त, सितम्बर १९९३

स्थायी भण्डारा (दण्डीक्षेत्र)

कच्चा भण्डारा : रोटी, चावल, साग, आदि ३५०० रु० एक बार में ।

पक्का भण्डारा : खीर, पूड़ी, साग, मिठाई, आदि ६००० रु० एक बार में ।
उपर्युक्त राशि के ब्याज से वर्ष में एक बार (एक दिन)

स्थायी भण्डारा

स्व० श्री बलदेवदास ढाँढनिया द्वारा श्री मदनलाल ढाँढनिया, हावड़ा	*कच्चा*	१-७-९३
ब्रह्मलीन स्वामी गणेश्वरानंद तीर्थ की आराधना, ईश्वरमठ	*कच्चा*	१-७-९३
श्रीमती ननकीदेवी बी० एच० यू०, वाराणसी	*कच्चा*	२-७-९३
स्व० रामेश्वरलाल नोपानी कलकत्ता	*कच्चा*	४-७-९३
श्री अलकापुरी जनकल्याण ट्रस्ट बालीगंज, कलकत्ता	*पक्का*	८-७-९३
स्व० ज्वालाप्रसाद जालान, आरा	*पक्का*	९-७-९३
श्री डी० कृष्णप्रसाद, विजयवाड़ा	*कच्चा*	११-७-९३
श्री गोपीराम अग्रवाल, कलकत्ता	*पक्का*	१९-७-९३
श्री महाबीरप्रसाद बूबना, कलकत्ता	*पक्का*	२१-७-९३
श्री स्वामी विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती (जजस्वामी), हरिद्वार	*कच्चा*	२२-७-९३
श्री बृजमोहन सराफ, कलकत्ता	*कच्चा*	२४-७-९३
श्री रामदास लोहिया द्वारा श्री गिन्नीलाल लोहिया, कलकत्ता	*कच्चा*	३०-७-९३
श्रीमती बुचुलिया देवी, गाजीपुर	*पक्का*	३१-७-९३
श्रीमती रुक्मिणींदेवी गोयनका कलकत्ता	*पक्का*	४-८-९३
श्रीमती शारदादेवी छावड़िया कलकत्ता	*कच्चा*	७-८-९३
श्री खेमचन्द मुरारका मेदिनीपुर, पश्चिम बंगाल	*पक्का*	११-८-९३
श्रीमती रतनीदेवी मथराण, कलकत्ता	*पक्का*	१३-८-९३
श्रीमती बृजमणिदेवी साह द्वारा श्री राजकुमार साह, वाराणसी	*पक्का*	१८-८-९३
श्रीमती भगवानीदेवी मूँदड़ा, कलकत्ता	*कच्चा*	१९-८-९३
स्व० हरमुख राम ढांढनिया द्वारा श्री मदनलाल ढांढनिया, कलकत्ता	*कच्चा*	२०-८-९३
स्व० पं० केदारनाथ ओझा द्वारा श्री जगदीश ओझा, बिहार	*कच्चा*	२८-८-९३
श्री संतकुमार तिवारी, जबलपुर	*कच्चा*	२८-८-९३
श्री कमला चैरिटी ट्रस्ट, कलकत्ता	*कच्चा*	३०-८-९३
श्रीमती सुमन द्वारा पवनकुमार वंका, बम्बई	*कच्चा*	११-९-९३
श्री गोपीराम अग्रवाल, कलकत्ता	*कच्चा*	१६-९-९३
श्री विजयकुमार खेमका, नागालैंड	*पक्का*	१८-९-९३
स्व० श्रीमती निर्मलादेवी मारू द्वारा विमल मारू	*कच्चा*	३०-९-९३

अस्थायी भण्डारा

श्री स्वामी शारदानंद तीर्थ, ईश्वरमठ	*कच्चा*	३-७-९३
श्री महाबीरप्रसाद चौधरी हजारीबाग, बिहार	*पक्का*	५-७-९३
श्रीमती गायत्रीदेवी बाजोरिया, बाजोरिया हाउस, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी	*पक्का*	१२-७-९३
श्री ओमप्रकाश काजड़िया, कलकत्ता	*पक्का*	१३-७-९३
श्रीमती शकुन्तला सोनथलिया कलकत्ता	*दुग्ध वितरण (रात्रि)*	१२-७-९३
श्रीमती शकुन्तला गोपालका आसनसोल	*कच्चा*	१४-७-९३
श्रीमती गायत्रीदेवी बजाज, राजस्थान	*कच्चा*	१४-७-९३
श्री प्रभुदयाल अग्रवाल, रायपुर	*फलाहार (एकादशी)*	१५-७-९३
श्रीमती लक्ष्मीदेवी चूड़ीवाल, कलकत्ता	*कच्चा*	१६-७-९३
श्री ओमप्रकाश छारिया, कलकत्ता	*समष्टि (पक्का)*	१७-७-९३

श्री राधेश्याम एवं लक्ष्मणदास मित्तल उड़ीसा	*पक्का*	१९-७-६३
श्री कुंजबिहारी खण्डेलवाल, कलकत्ता	*कच्चा*	२०-७-६३
श्रीमती दुर्गादेवी काजड़िया कलकत्ता (व्यतिपात)	*कच्चा*	२२-७-६३
श्री स्वामी रामनाथानंद तीर्थ की आराधना	*पक्का*	२३-७-६३
श्री रघुनंदनप्रसाद डालमिया कलकत्ता	*पक्का*	२४-७-६३
श्रीमती विमलादेवी जालान, आरा	*कच्चा*	२५-७-६३
श्री लल्लन राय, वाराणसी	*कच्चा*	२७-७-६३
श्री ब्रजभूषण चतुर्वेदी, फैजाबाद	*कच्चा*	२८-७-६३
श्री सत्यनारायण सराफ, कलकत्ता	*कच्चा*	२९-७-६३
श्री स्वामी उमेश्वरानंद तीर्थ ईश्वरमठ, वाराणसी	*कच्चा*	३०-७-६३
श्री छगनलाल चोखानी, ऋषिकेश	*पक्का*	३१-७-६३
श्री बद्रीप्रसाद तिवारी, सिहोर	*कच्चा*	१-८-६३
श्रीमती गायत्रीदेवी बाजोरिया वाराणसी	*पक्का*	२-८-६३
श्री भगवतीप्रसाद खेतान, कलकत्ता	*पक्का*	३-८-६३
श्री शंकरदयाल अग्निहोत्री, कानपुर	*कच्चा*	४-८-६३
श्री रति लालाजी, वाराणसी	*पक्का*	५-८-६३
श्री कृष्णकान्त खण्डेलवाल, जबलपुर	*कच्चा*	६-८-६३
श्री मांगीलाल शारडा, उड़ीसा	*कच्चा*	१२-८-६३
श्रीमती दुर्गादेवी काजड़िया कलकत्ता (व्यतिपात)	*कच्चा*	१६-८-६३
श्रीमती गायत्रीदेवी बाजोरिया वाराणसी	*पक्का*	१७-८-६३
श्रीमती भगवतीदेवी मूँदड़ा कलकत्ता	*कच्चा*	१९-८-६३
श्री दुर्गाशंकर पाण्डेय, वाराणसी	*कच्चा*	२१-८-६३
श्री जगदीश सिंह, फैजाबाद	*पक्का*	२३-८-६३
श्री जगदीश सिंह, फैजाबाद	*पक्का*	२४-८-६३
श्री चुन्नीलाल द्वारा श्री स्वामी राधेश्वरानंद तीर्थ	*कच्चा*	२५-८-६३
श्री रामहर्ष चौरसिया, वाराणसी	*कच्चा*	२६-८-६३
श्रीमती कृष्णा नागातानी, वाराणसी	*फलाहार (पक्का)*	२७-८-६३
श्री अमरनाथ मिश्र, वाराणसी	*कच्चा*	२८-८-६३
श्री चन्द्रप्रकाश लढ्ढा, वाराणसी	*समष्टि (पक्का)*	२९-८-६३
श्री भगवानप्रसाद लाहोटी मीरघाट, वाराणसी	*पक्का*	३०-८-६३
श्रीमती निर्मलादेवी मारू, वाराणसी	*कच्चा*	३१-८-६३
श्री ब्रजभूषण चतुर्वेदी, गाजीपुर	*कच्चा*	१-९-६३
श्रीमती राजदेवी, नई दिल्ली	*पक्का*	२-९-६३
श्री रामनाथ तोशनीवाल, दिल्ली	*पक्का*	३-९-६३
श्री सहगलजी जड़ीवाले, वाराणसी	*पक्का*	४-९-६३
स्व० दिगम्बरप्रसाद अग्रवाल द्वारा अमरनाथ अग्रवाल गोपीगंज, वाराणसी	*पक्का*	६-९-६३
श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा, जोधपुर	*कच्चा*	७-९-६३
श्री शिवशंकर शर्मा मुमुक्षु भवन, वाराणसी	*पक्का*	८-९-६३
श्रीमती रामरतीदेवी, आगरा	*पक्का*	९-९-६३
श्री रघुनाथप्रसाद अग्रवाल, वाराणसी	*पक्का*	१०-९-६३
श्रीमती दुर्गादेवी काजड़िया, कलंकत्ता	*कच्चा*	११-९-६३
श्री संतोषकुमार मारू, वाराणसी	*पक्का*	१२-९-६३
स्व० श्रीमती सावित्रीदेवी झुनझुनवाला कलकत्ता	*कच्चा*	१४-९-६३
श्रीमती रामनगीना तिवारी मुमुक्षु भवन	*पक्का*	१५-९-६३
श्री जगदीशराम गढीवाल, उड़ीसा	*पक्का*	१६-९-६३
श्रीमती लक्ष्मीबाई, राजस्थान	*कच्चा*	१७-९-६३
श्रीमती शशिबाला, सेवा उपवन	*कच्चा*	१८-९-६३
श्री पन्नालाल शारडा, कलकत्ता	*कच्चा*	१९-९-६३
श्री स्वामी वासुदेव आश्रम, चित्रकूट	*कच्चा*	२०-९-६३
श्रीमती नर्मदा चौधरी, वाराणसी	*कच्चा*	२१-९-६३
श्री उमाशंकर चौबे, उड़ीसा	*पक्का*	२२-९-६३
श्रीमती राधाबाई झुनझुनवाला	*कच्चा*	२३-९-६३
श्री राधाकिशन मारू, वाराणसी	*पक्का*	२४-९-६३
श्री स्वामी राजेश्वरानंद तीर्थ ईश्वरमठ	*कच्चा*	२८-९-६३
श्री मदनलालजी गट्टानी, जोधपुर	*पक्का*	२९-९-६३

अन्न क्षेत्र

श्री महेशकुमार झुनझुनवाला सारनाथ, वाराणसी	*पक्का*	३-७-६३
स्व० भुवनेश्वरप्रसाद सिन्हा, पटना	*कच्चा*	१७-७-६३

श्री बजरंगलाल काबरा, कलकत्ता	कच्चा	१६-७-६३
श्री विश्वनाथ केजरीवाल, बराकर	कच्चा	२३-७-६३
श्री सत्यनारायण पोद्दार, कलकत्ता	कच्चा	२५-७-६३
श्रीमती विमलादेवी जालान, आरा	कच्चा	२५-७-६३
गुप्तदाता		२६-७-६३
श्री गिरजाशंकर ब्रह्मचारी, वाराणसी	कच्चा	२६-८-६३
श्री सीताराम हिसारिया, आसाम	कच्चा	२८-८-६३
श्री गोविन्दराम पसारी, उड़ीसा	कच्चा	२६-८-६३
श्रीमती विश्वनाथ केजरीवाल	कच्चा	१-६-६३
श्रीमती मणिबाई, रवीन्द्रपुरी	कच्चा	११-६-६३
श्री बाबूराम सराफ	कच्चा	१३-६-६३
श्री पवनकुमार सिंघानिया, मधुपुर	पक्का	१५-६-६३
श्रीमती विद्याबाई द्वारा जगदीशराम गढीवाल, उड़ीसा	कच्चा	१६-६-६३

प्रथमा विद्यालय (अस्थायी)

श्री विजयकुमार अग्रवाल पदपराग, वाराणसी	दुग्ध	६-७-६३
श्री विजयकुमार अग्रवाल	दुग्ध	६-७-६३
श्री प्रभुदयाल अग्रवाल, रायपुर	कच्चा	१६-७-६३
श्री भगवतीप्रसाद खेतान, कलकत्ता	पक्का	३-८-६३
श्री रतिलालजी, वाराणसी	पक्का	५-८-६३
श्री नेमीचन्द्र तोशनीवाल, कलकत्ता	कच्चा	६-६-६३
श्री रामस्वरूप खण्डेलवाल मुमुक्षु भवन	कच्चा	११-६-६३

भुवालका जन कल्याण ट्रस्ट (होमियोपैथिक दातव्य चिकित्सालय)

	नये रोगी	पुराने रोगी	कुल योग
जुलाई ६३	४०६	१८२६	२२३५
अगस्त ६३	३३३	१६०४	१६३७
सितम्बर ६३	४१३	१७७६	२१६२

श्री कमला चैरिटी ट्रस्ट (आयुर्वेदिक दातव्य चिकित्सालय)

	नये रोगी	पुराने रोगी	कुल योग
जुलाई ६३	६१०	२३३	११४३
अगस्त ६३	११००	२५६	१३५६
सितम्बर ६३	१०१२	२६६	१२८१

ईश्वरमठ, दण्डीक्षेत्र, वाराणसी
के ६४ वर्षीय वयोवृद्ध विद्वान् संत
पूज्य १०८ श्री स्वामी गंगानंदजी तीर्थ

दाताओं से सधन्यवाद प्राप्त

श्री द्वारिकाप्रसाद पिलानियां झुमरीतलैया (बिहार)	२६० मीटर मारकीन (दण्डी स्वामियों हेतु कटिवस्त्र) १२-७-६३
गुप्तदाता, वाराणसी	१० साड़ी (जनानी) ६० धोती (मरदानी) २८५ मीटर मारकीन वृद्धाओं, विद्यार्थियों एवं दण्डी संन्यासियों हेतु ३०-७-६३
श्री अनुरागदास, महमूरगंज वाराणसी	१ बोरा गेहूँ २६-८-६३
श्री पूरनमल मोर, कलकत्ता	४४ किलो गेहूँ ११-६-६३

काशी मुमुक्षु भवन सभा, वाराणसी

शाखा : उत्तर काशी

नवनिर्मित भवन
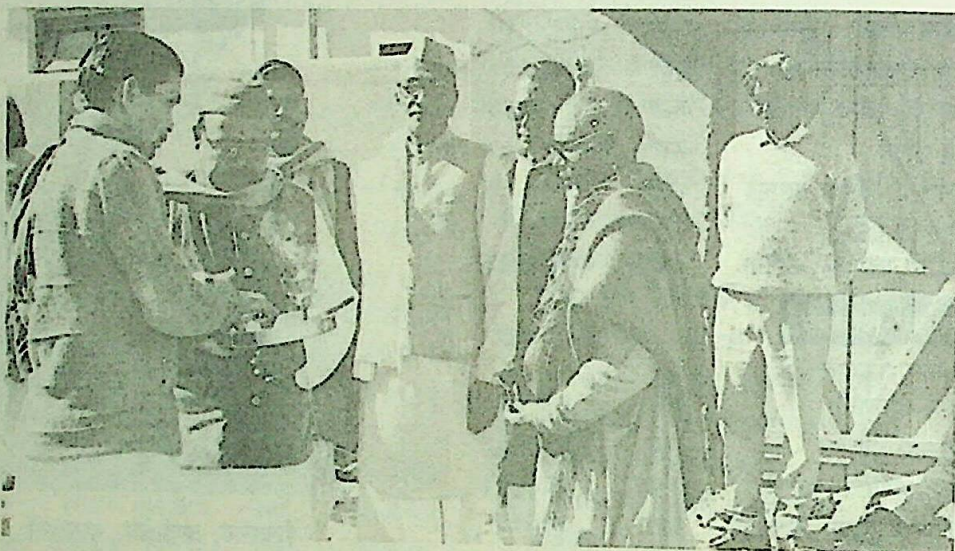
श्रीमती पद्मादेवी कानोड़िया, कलकत्ता
द्वारा निर्माणाधीन भवन का शिलान्यास करते हुए श्री पंकज जी
चित्र में प्रमुख : सर्वश्री नंदलाल टाँटिया, सत्यनारायण अग्रवाल, रमेश गोयल, सुरेन्द्र चौबे
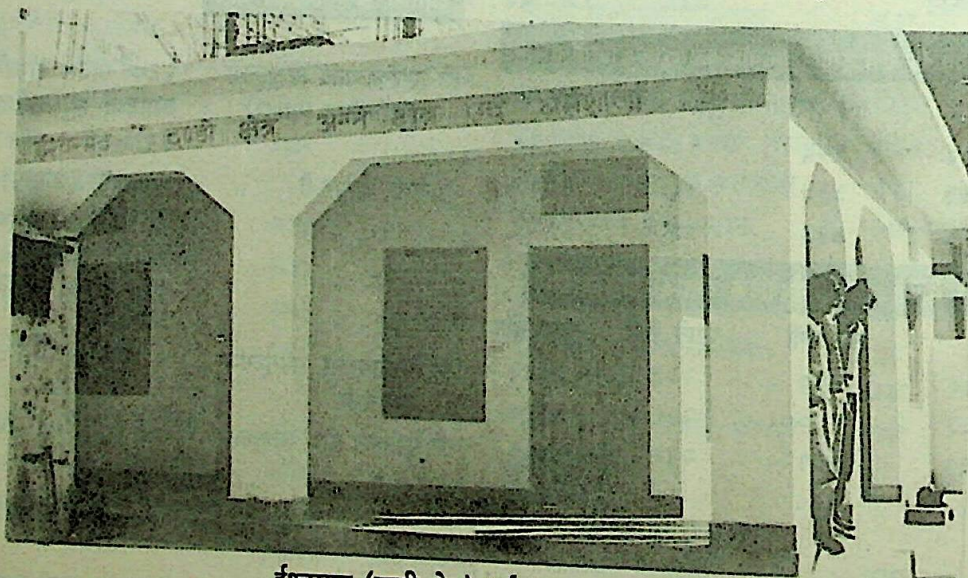
ईश्वरमठ (दण्डी क्षेत्र) धर्मशाला, उत्तरकाशी
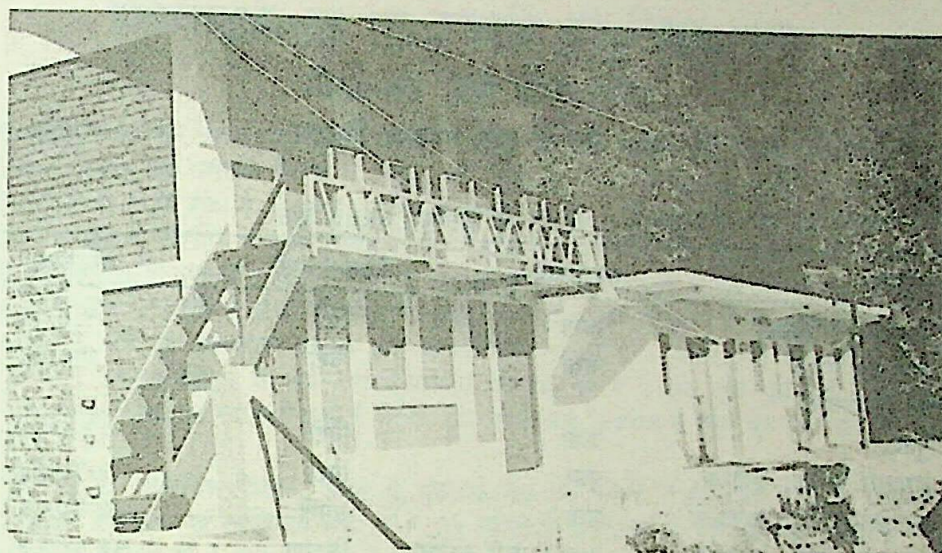
संत निवास, उजेली (उत्तरकाशी)

महाराष्ट्र के पेशवा माधवराव के गुरु मंत्री एवं प्रधान न्यायाधीश जैसे उच्च पदों पर श्रीराम शास्त्री नामक एक कुलीन ब्राह्मण थे । विद्वता एवं उच्च पदों से सम्पन्न होकर भी शास्त्री जी का जीवन सादगी का मूर्त रूप था ।

एक दिन शास्त्री जी की धर्मपत्नी आवश्यक कार्यवश राजमहल में रानी के पास गयीं । रानी ने गुरुपत्नी को जनसाधारण से भी सादा वस्त्रों में देखा तो बड़ा आश्चर्य हुआ उसे । गुरुपत्नी की यह स्थिति उसे अपने और स्वयं महाराज माधवराव के सम्मान में एक कमी मालूम हुई । उसने सोचा गुरुपत्नी की इस दशा से महाराज की निन्दा होना स्वाभाविक है । रानी ने गुरुपत्नी को सुन्दर-सुन्दर बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण पहनाये और सम्मान के साथ कहारों द्वारा पालकी मे बैठाकर घर भिजवाया ।

कहारों ने द्वार पर जाकर किवाड़ खट-खटाये । शास्त्री जी बाहर आए किवाड़ खोले किन्तु यह कह कर बन्द कर दिये—"भाई यह बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत देवी कोई और हैं आप लोग भूल से यहाँ आ गए इन्हें तो किसी भव्य महल या राज प्रसादों में ले जाओ ।"

शास्त्री जी की धर्मपत्नी उनके स्वभाव को भली प्रकार जानती थीं । वह राजमहल मे लौट गईं और वहाँ उन बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को छोड़कर अपने पूर्व वस्त्र धारण किए और पैदल ही राजमहल से अपने घर तक आईं । घर पर आई तो दरवाजा खटखटाना नहीं पड़ा दरवाजा खुला था ।

शास्त्री जी ने कहा—"भद्रे ! बहुमूल्य वस्त्र आभूषण तो अविवेकी लोगों द्वारा अपनी अज्ञानता, संकीर्णता, क्षुद्रता को छिपाने का साधन हैं । इस पर भी हम तो ब्राह्मण हैं, दूसरों को प्रगति और मर्यादाओं पर चलने का मार्ग दिखाने की सम्पत्ति सादगी ही होती है ।"

काशी मुमुक्षु भवन सभा, वाराणसी
शाखा–दण्डी क्षेत्र, उत्तरकाशी
अन्न क्षेत्र में हुए भण्डारा विवरण

सितम्बर १९९३ से दिसम्बर १९९३ तक

	नाम	कच्चा/पक्का	विष्टी/समष्टी	दिनांक
१.	श्री बट्टुराम उत्तरकाशी	कच्चा	विष्टी	१-९-९३
२.	श्री रामप्रसाद मित्तर यावर (राजस्थान)	कच्चा	विष्टी	४-९-९३
३.	श्री गुप्तदानी	कच्चा	विष्टी	२३-९-९३
४.	श्री रामलाल मलीक, अयोध्या	पक्का	विष्टी	१३-१०-९३
५.	श्री नन्दलाल टांटिया, कलकत्ता	पक्का	समष्टी	१४.१०.९३
६.	श्री नन्दलाल टांटिया, कलकत्ता	१००३ ऊनी कम्बल	वितरण	१४.१०.९३
७.	श्री नन्दलाल टांटिया, कलकत्ता	रु० १००१ अन्नक्षेत्र सहायता		२२.१०.९३
८.	मे० शंकर हार्डवेयर स्टोर उत्तरकाशी	कच्चा	विष्टी	४.११.९३
९.	श्री रामनाथ मिस्त्री	कच्चा	विष्टी	५.११.९३
१०.	श्री नन्दलाल टांटिया, कलकत्ता	अन्नक्षेत्र सहायता ५००० रु० दिसम्बर ९३ से मार्च ९४ तक प्रत्येक मंगलवार हलुवा तथा शनिवार चना, छोला हेतु		
११.	श्री मदनलाल रमाकान्त सलकिया हावड़ा	गरम स्वेटर वितरण		२३.१२.९३
१२.	श्री रमेशचन्द्र गोयल कोट बंगला, उत्तरकाशी	कच्चा	विष्टी	२४.१२.९३
१३.	गुप्तदान	१५ स्टील गिलास, २ स्टील प्लेट ३ स्टील कटोरी, १ स्टील जग अन्न क्षेत्र हेतु प्राप्त		२५.१२.९३
१४.	श्री बालकिशन जी, सहारनपुर	एक बोरी आलू प्राप्त		२५.१२.९३

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावा पृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ।।

अन्तरिक्ष हमें अभय प्रदान करे, ये दोनों आकाश और पृथ्वी हमें अभय दें । पीछे से, आगे से, ऊपर से और नीचे से—चारों दिशाओं से हमें अभय ही प्राप्त हो ।

इतिहास के रथ पर गणपति की विजय-यात्रा

श्री रतनलाल जोशी

अधिकांश इतिहासकार गणेश को वैदिक देवता नहीं मानते । 'गणपति' शब्द ऋग्वेद के एक मंत्र (ऋग्-२-२३-१) में आया है—'गणाना त्वा गणपतिं हवामहे ।' किन्तु यहाँ 'गणपति' शब्द 'गणेश' का पर्याय न होकर गणों के स्वामी के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है । शुक्ल यजुर्वेद एवं ऐतरेय ब्राह्मण में भी 'गणपति' शब्द की आवृत्तियां हैं । किन्तु गणेश के अर्थ में गणपति का स्पष्ट उल्लेख तैत्तिरेय आरण्यक एवं बोधायन के सूत्र ग्रन्थों मे ही मिलता है । यहँ गणेश का नाम विघ्न-विनायक है । बाद में 'विघ्न' के चोले को छोड़कर वे 'विघ्नहर्ता' हो गये और 'विनायक' मांगलिक व्यक्तित्व में सर्वत्र पूजे जाने लगे । दक्षिण में आज भी गणेश का प्रचलित नाम विनायक ही है, गणेश नहीं । महाराष्ट्र में वे गणपति हैं, क्यों कि लोकमान्य तिलक उन्हें ऋग्वेदी देवता मानते हैं । महाराष्ट्र में एवं दक्षिण भारत में गणपति-उत्सव में गणपति-आह्वान के साथ गणपति-विसर्जन की प्रथा भी है । यह प्रथा गुह्य-सूत्रों में वर्णित उन प्रार्थनाओं के अन्तिम अंशों का स्मरण दिलाती है जिनमें पूजा के पश्चात् विनायक से बहुत दूर चले जाने का अनुनय किया गया है ।

गणेश-पूजा का वास्तविक विकास, असल में, ईसा के बाद की शतियों में ही हुआ । प्रायः देशकाल की आवश्यकतानुसार देवताओं का आविर्भाव होता है । गुप्त सम्राटों के शक्तिक्षय के बाद देश का सार्वभौम संगठित राजतंत्र छिन्न-भिन्न हो गया था । अतः सारे देश में स्थान-स्थान पर अराजकता, अनाचार से त्रस्त प्रजा को आत्म-रक्षार्थ अपने-अपने क्षेत्रीय तंत्र निर्मित करने की आवश्यकता पड़ गयी । वैदिक काल की परंपराओं में अपनी कड़ियां अक्षुण्ण रखते हुए प्रजा ने शासन की इन इकाइयों का 'गण' नामकरण किया था । गणाध्यक्ष या गणपति इनका अधिष्ठाता होता था । शोधकर्ताओं का अनुमान है कि 'रामराज्य' के प्रतिष्ठाता राम की तरह कभी किसी गण का गणपति भी अपनी प्रजावत्सलता के लिए देवता के रूप में पूजा जाने लगा होगा ।

भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में गणपति को 'महाग्रामणी' नाम दिया है, जो गणेश-उत्पत्ति-संबंधी ऊपर के विवेचन की पुष्टि करता है । 'नाट्यशास्त्र' के नियमों के अनुसार, प्रत्येक नर्तक-नर्तकी को नृत्य के आरंभ से पहले 'महाग्रामणी' के अनुग्रह की याचना करनी चाहिए । दक्षिण भारत में यह परंपरा आज भी प्रचलित है । वहाँ नृत्याचार्य नृत्य-शिक्षण का शुभारंभ भी भाद्र शुक्ला चतुर्थी से ही करते हैं ।

किन्तु 'भारत-रत्न' महामहोपाध्याय काणे इसे मान्य नहीं करते । वे गणपति को विष्णु, शिव एवं सूर्य की भांति आर्यों का प्राचीन देवता ही मानते हैं । गणेश को भी वे गणपति का पर्याय ही मानते हैं । गणेश को भी वे गणपति का पर्याय ही मानते हैं । उनका मत है कि जन-मन-मंगल की भावना आर्य-जाति में इतनी प्रबल रही है कि उसकी श्रद्धा को अन्य अनेक देवताओं के होते हुए मंगलमूर्ति गणेश की भी सृष्टि करनी पड़ी है । आर्य-संस्कृति में धर्म की सार्थकता मानव-मंगल में है और मानव-मंगल जिन प्रेरणाओं द्वारा क्रियान्वित हो, उन प्रेरणाओं का स्रोत ही हमारे मंगल-बोध के लिए देवता बन गया है । शिव, विष्णु और दुर्गा सहित गणपति-गणेश की उत्पत्ति भी हमारे इसी जातिगत संस्कार की देन है ।

ऋग्वेद से चली आ रही आर्यों की विशृंखल बहुदेवोपासना को सातवीं शताब्दी में आदि शंकराचार्य ने छह देवों की उपासना में नियमित करने का प्रयत्न किया था । इतिहास में उनकी यह व्यवस्था 'षाण्मत' के नाम से प्रसिद्ध है । इन छह देवताओं में विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य, कार्तिकेय के साथ गणेश सर्वप्रथम आते हैं । उत्तर भारत में कार्तिकेय को अलग करके 'षाण्मत' पंचदेवोपासना तक ही सीमित रह गया । गणेश-पूजा और गणेश-महिमा के जो स्तोत्र और स्तुतियां शंकराचार्य ने रचीं, वे संस्कृत के भक्ति-साहित्य में अपने पद-लालित्य के लिए भक्ति रस की बेजोड़ कृतियाँ हैं । शंकराचार्य ने गणेश को ज्ञान और मोक्ष का अधिपति बताया है । उनके अनुसार 'ग' अक्षर ज्ञान का प्रतीक है और 'ण' अक्षर मोक्ष का । उपासना और संप्रदाय की लम्बी यात्रा करते हुए 'गणेश पुराण' तक आते-आते ये दो अक्षर 'शुभ' और 'लाभ' के प्रतीक हो गए—विशेषतः 'शुभ' और 'लाभ' के अधिपति के रूप में ही आज गणेश का पूजन होता है । घर के प्रवेश द्वार पर उनकी मूर्ति स्थापित की जाती है और व्यापारी अपनी बहियों पर 'श्रीगणेशायनमः के साथ इन दो शब्दों को लिखना नहीं भूलते हैं ।

सर्वाधिक लोकप्रिय देवता

आज गणपति की गणना संसार के सबसे लोकप्रिय देवताओं में है। ऐतिहासिक स्तर पर उनके महत्त्व का विस्तार सार्वभौम है। देश के आस्तिक समाज पर उनकी महिमा का सम्मोहन इतना गहरा रहा है कि देश का कोई भी संप्रदाय उन्हें अपना इष्टदेव या ऋद्धास्पद उपास्य बनाये बिना मानसिक तुष्टि का अनुभव नहीं कर सका। वैष्णों में गणेश श्रीकृष्ण के अवतार हैं। 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' के अनुसार, पार्वती के तप से प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण पार्वती के गर्भ से उत्पन्न हुए थे।

'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में जहाँ विष्णु ने गणेश की महिमा गाई है, वहां राधा ने भी उन्हें 'परात्परं मंगलायनम्' आदि नामों से संबोधित कर उनका स्तुतिगान किया है। पार्वती-परमेश्वर अर्थात् शिव-पार्वती के पुत्र होने के नाते शाक्तों एवं शैवों में तो वे पूज्य हैं ही, जैन एवं बौद्ध मत भी उन्हें अपनाने की होड़ में किसी से पीछे नहीं रहे। तंत्र के द्वारा गणेश का प्रवेश बौद्धधर्म में हुआ। वज्रयान के प्रसार के साथ-साथ गणेश भी तिब्बत, बर्मा, चीन, जापान और दक्षिण-पूर्वीय एशिया के देशों में धर्म, साहित्य, संस्कृति एवं कलाओं पर छा गए। गांधार के मार्ग से वे मध्य एशिया के विस्तृत भू-भाग में प्रतिष्ठित हुए और दक्षिण में बौद्ध के साथ-साथ श्रीलंका की संस्कृति में उनका स्थान भी अक्षुण्ण हो गया।

गाणपत्य संप्रदाय

श्रद्धा का लोक-विस्तार पाकर उपासना संप्रदाय-विशेष में ढल जाती है। प्राप्त प्रमाणों के अनुसार, गुप्तकाल के आते-आते गणेशोपासना भी गाणपत्य संप्रदाय के रूप में विकास पाने लगी। गणपति की नाना प्रकार की मूर्तियां बनाई जाने लगीं—पत्थरों की, धातुओं की और हाथीदांत की भी। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को लेकर कई कथाएं भी विकास पाने लगीं। गणेश के बड़े भाई स्कंद अर्थात् कार्तिकेय तो केवल देवताओं के सेनापति रहे, किन्तु गणेश देव-दानव, सुरासुर दोनों की ही सभाओं में पूज्य होकर देश की समन्वय मूलक संस्कृति के सर्वोच्च देवता बन गये। पुराणों के अनुसार, देवगुरु बृहस्पति जहां यज्ञ में सबसे पहले गणेश की पूजा करते हैं, वहाँ असुरों के गुरु शुक्राचार्य नवग्रहाधिपति के रूप में असुरों के प्रत्येक कार्यारंभ में उनका आह्वान आवश्यक समझते हैं। मद्रास के त्यागराजनगर में अगस्त्येश्वर का एक मन्दिर है, जिसमें नवग्रह की मूर्तियाँ स्थापित हैं। इन मूर्तियों में शुक्र के सम्मुख गणेश बैठे हैं और बृहस्पति के सम्मुख कार्तिकेय। शिव ने अपने दोनों पुत्रों को सृष्टि के सुख-दुःख-विधाता नवाग्रहों का साम्राज्य दिया था, किन्तु कार्तिकेय पिछड़ गये और गणेश नवग्रहाधिपति के रूप में पूजे जाने लगे।

गाणपत्य संप्रदाय जब विकसित होकर शैव-सम्प्रदाय और वैष्णव-संप्रदाय की प्रतिद्वंद्विता में आया तो गणपत्यों ने भी अपने इष्टदेव गणपति को शिव और विष्णु की तरह परब्रह्म परमात्मा की सर्वोच्च प्रतिष्ठा में पूजना प्रारंभ कर दिया। उनके भी वेद, उपनिषद्, गीता, पुराण और महिम्न-स्तोत्र बन गये। 'गणेशाथर्वशीर्षोपनिषद्' गाणपत्यों का सर्वोच्च मंत्रग्रन्थ है, जिसका प्रारंभिक मंत्र गणेश की परब्रह्म परमात्मा के रूप में स्तुति का द्योतक है—

त्वमेव प्रत्यक्षं तत्वमसि
त्वमेव केवलं कर्तासि
त्वमेव केवलं धर्तासि
त्वमेव केवलं हर्तासि
त्वमेव सर्व खल्विदं ब्रह्मासि
त्वम् साक्षादात्मासि नित्यम्!

(हे गणेश, आप ही प्रत्यक्ष तत्त्व हैं, आप ही परमकर्ता हैं, आप ही परमधर्ता है, आप ही परमहर्ता हैं, आपही 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' हैं, आप साक्षात् नित्य आत्मस्वरूप है—परब्रह्मा परमात्मा हैं।)

काशी मुमुक्षु भवन-सभा के लिए नन्दकिशोर रूँगटा द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित
तथा वाराणसी एलेक्ट्रानिक कलर प्रिन्टर्स प्रा० लि०, चौक, वाराणसी द्वारा मुद्रित